गान्धी : आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

भवानीशंकर व्यास 'विनोद'

कल्पना प्रकाशन
बीकानेर

प्रकाशक :
कल्पना प्रकाशन
कृष्ण कुंज, बीकानेर

• •

मूल्य : ५.०० रुपए (पांच रुपये)
© : भवानी शंकर व्यास 'विनोद'

• •

पुस्तक-बंधक :
अजन्ता ट्रेडर्स
दाऊजी रोड, बीकानेर

• •

मुद्रक :
एजूकेशनल प्रेस
फड़ बाजार, बीकानेर

GANDHI : ADHUNIK PARIPREKSHYA MAIN
—Bhawanishankar Vyas 'Vinod' *Price Rs.*

प्रकाशकीय

गांधी शताब्दी वर्ष में महात्मा गांधी पर विविध.प्रकाशन हुए—होने ही थे। भारत भर का लेखन एवं प्रकाशन एक बार गाधी की तरफ अभिमुख हो गया। लोगों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों, विचारधाराओं एव उद्देश्यों से गाधीजी पर पुस्तकें लिखी।

भीड भरे लेखन मे अधिकाश पुस्तकें भीड का अग बन गई—वे भीड मे अपनी इयत्ता नही रख सकी। इनमे शुद्ध अर्थ-लाभ की दृष्टि से लिखी गई कुछ पुस्तकें भी थीं। जिनको सम्बल मिला वे भीड में कुछ आगे निकल गई लेकिन जिनके 'वादे' या 'आश्वासन' पूरे नहीं हुए, वे शीर्षासन कर गई।

प्रस्तुत पुस्तक उन कुछ पुस्तको मे से एक है जो अपनी इयत्ता बनाए रखने मे सक्षम है—चाहे वे भीड में चलें अथवा आगे पीछे रह जायें। यह उन पुस्तको मे से एक है जिनके अपने स्वर हैं जो 'हिज मास्टर्स वायस' नहीं हैं, जो वादो पर 'अमरबेल' की तरह नहीं फलती।

कल्पना प्रकाशन की गौरवमय परम्परा में यह अपने ही प्रकार का एक अनूठा प्रयास है। सजग पाठकों से अपेक्षा है कि वे इस पुस्तक पर अपने विचार बनाए तथा हो सके तो हमे अवगत करें।

इस पुस्तक के प्रकाशन मे भाई श्री बी. डी सोनी 'नलिन', श्री वीरेन्द्र सकसेना एव श्री उमेश मित्तल का जो सहयोग मिला उसके लिए मैं हृदय से आभारी हूं।

—कृष्ण जनसेवी

अपनी ओर से

- प्रस्तुत पुस्तक मे महात्मा गाधी के विचारों का आधुनिक सदर्भ मे मूल्यांकन किया गया है। इसमें उनके विचारों का मथन और भाष्य है तो अपनी ओर से कुछ स्थापनाएं भी हैं।
- महात्मा गांधी के 'मसीहाई' स्वरूप को उभारने की चेष्टा पुस्तक में कहीं पर भी नही है। उनके विचारों के व्यावहारिक पक्ष को उजागर अवश्य किया गया है।

- इसमें न तो दृष्टि प्रतिरेक की भावना है और न सदर्भों से काट कर किसी स्थापना को प्रामाणिक सिद्ध करने की चेष्टा है।

- गाधी का जीवन-दर्शन व्यावहारिक पक्ष पर आधारित था। वे किसी भी सिद्धान्त का प्रयोग पहले अपने ऊपर ही करते थे। अपने अनुभवों से पुष्ट सिद्धान्त को वे सामाजिक फलक पर उतारते थे—राजनीति का सम्बल बनाते थे एव आर्थिक विचारधारा का आधार-बिन्दु मान कर उसे सार्वजनिक स्वरूप देते थे। परिस्थितिया एव बदलते हुए सदर्भ उनके विचारों को कसौटी पर चढ़ाते रहते थे। इस सारे दौर में कुछ विचार शाश्वत बने रहे तो कुछ तत्कालीन स्थितियों के उपयुक्त "सामयिक" सिद्ध हुए। पुस्तक में इन दोनों के बीच मे सीमा रेखा खीचने का प्रयास किया गया है।

पुस्तक जैसी भी है, आपके सामने है। प्रकाशन का श्रेय श्री कृष्ण जनसेवी को है तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

—भवानीशंकर व्यास 'विनोद'

अनुक्रम

⊙

चिन्तन की प्रक्रिया : ९
सामाजिक फलक पर : १६
राजनीति : तकनीक का चक्कर : ३९
धर्म-अर्थ : अर्थ-धर्म : ७८

चिंतन की प्रक्रिया

महात्मा गांधी के निधन के इन दो दशकों मे उन पर देश-विदेश मे जो चिंतन हुआ है, यदि उसे आधार मान लिया जावे तो उन्हें युग का सर्वाधिक चर्चित व्यक्ति कहा जा सकता है। पिछले कई वर्षों मे गाधी पर विविध दृष्टिकोणों एव विचारधाराओ से चितन किया गया है।

गांधी के विचारों का मथन करते समय विचारक अपने स्वविचारों को उनसे जोड लेते हैं तथा सदर्भों से काट कर उन विचार-बिन्दुओं को इस रूप मे प्रकट करते हैं कि गाधी अपने आप में विरोधाभास से ग्रसित लगने लगता है। गाधी के साथ यह अन्याय उनके तीव्र आलोचकों ने किया हो—ऐसी बात नही है। उनके भक्तों, अनुयायियों एव समर्थकों ने गांधी को दार्शनिक अथवा युगचिन्तक के रूप में लेने के स्थान पर एक 'लेबल' के रूप मे लिया तथा किसी ऊंचे मच पर उपदेश की मुद्रा मे बैठे किसी मठाधीश अथवा आप्त वाक्य कहने वाले मसीहा के रूप मे उसे उभारा। उसे ऐसे 'धन्वन्तरी' के रूप में स्थापित किया जिसके पास सभी व्याधियों का उपचार प्राप्य हो सकता है। उसमे एक साथ किसी राजनेता, समाजसुधारक, दार्शनिक, शिक्षक, धर्म-भाष्यकर्ता एव न जाने कितने अन्य रूपों के "विराट स्वरूप" का दर्शन किया।

इन सब रूपों के पीछे निहित स्वार्थ परिलक्षित रहे। अपने नाम के साथ गांधीवाद की 'तख्ती' लगाने का अभियान उन्होंने इसलिए आरम्भ किया क्योंकि जब अन्य उपाय चुक गए तो सामाजिक मान्यता का मात्र 'पासपोर्ट' यही रह गया था।

इसके विपरीत, विरोधियों की प्रतिक्रियाओं में भी गांधी का सही मंथन हुआ हो—ऐसा नहीं लगता। उन्होंने गांधी की देन के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर ही उसे सोचा; संशय की पृष्ठभूमि में ही विचार किया; 'रिजेक्ट' करने के भाव से ही उस पर कुछ कहा। यदि 'भक्तों' ने मात्र औपचारिकता का निर्वाह करना ही पर्याप्त समझा तो विरोधियों ने 'नकारने' मात्र में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली। गांधी के विरोधी उनको उन महान विचारकों की श्रेणी में रखने को तैयार नहीं है जिन्होंने शिल्पियों की तरह अपनी छेनियां लेकर युग के अनगढ़ पत्थरों को गढ़ा तथा उनमें अर्थ प्रकट करने की क्षमता भरी; चित्रकारों की तरह अपनी तूलिकाओं से मूर्त-अमूर्त भाव दिए तथा दार्शनिकों की तरह 'सत्य' के दर्शन से युग के लिए कुछ स्थायी संदेश दिए।

हमने ऊपर की दो विचारधाराओं का जो आकलन किया है, उनमें दो किनारों के दृष्टिकोणों के भाव हैं; अतिरेक की समस्या है तथा निहित स्वार्थों की पृष्ठभूमि में विचार प्रकट करने की प्रक्रिया है। 'भक्त' एवं 'विरोधी' दोनों अपनी बात को अंतिम सत्य के रूप में कहते आ रहे हैं; इसके आगे जैसे उनके विचारों के 'टर्मिनस' अथवा 'फुलस्टॉप' की स्थिति हो।

गांधी के जीवन के परिप्रेक्ष्य में इन विचारों को देखें तो हमें उस उदार चिंतन एव सत्य के साथ साक्षात्कार की बात नही मिलती जो महात्माजी के जीवन की एक विशेषता थी। उनका जीवन 'खाइयां' पाटने मे बीता था। वे दो दूरियों के बीच में पुल बन जाते थे तथा विरोधी विचारों मे भी यदि कही 'साम्य' की ध्वनि आती तो सत्य के साथ होने वाले प्रयोगों में उसे सम्मिलित कर लेते थे।

जिन लोगों ने गाधी के नाम का अपने हितों में प्रयोग किया वे, इसलिए अपराधी है क्योंकि उन्होंने गांधी के उस स्वरूप को ओझल कराने का प्रयास किया जो साधारण जनता के बीच में सघर्षों के सहयात्री, अनुभवों के भागीदार एव सहभुक्ता के रूप में उभरा था। यहां सतर्कता की आवश्यकता इसलिए भी अपेक्षित है क्योंकि इन प्रयासों से गांधी कहीं इतना 'ऊचा' नही उठा दिया जाये कि साधारण व्यक्ति के 'पहुंच' के बाहर हो जाय। अंधश्रद्धा सामयिक महानता तो दे सकती है पर शाश्वत स्वरूप का निर्माण नही कर पाती।

गांधी की प्रस्तर मूर्तियों का स्वरूप यदि चिंतन के क्षेत्र मे उतर गया तो वे केवल 'दर्शनीय' अथवा 'पूजनीय' बनकर रह जाएगे। 'ऊचाई' के भय से यदि उन्हें जन-जीवन में नही उतारा तो आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उनकी उपयोगिता नही रहेगी।

महात्मा गांधी के जीवनकाल में भी कई लोगों का उनके साथ विचार-साम्य नही था। ऐसे भी लोग थे जो उनके विचारों के धरातल को काल्पनिक अथवा युटोपियन

[illegible] कर तादात्म्य करते थे और ऐसे भी थे जो उनके कुछ विचारों के साथ सहमति नहीं दिखा सकते थे। गांधी के राजनीतिक उत्तराधिकारी श्री नेहरू ने अनेक बार उनके साथ मतभेद प्रकट करने पर भी उनसे सम्बन्ध कायम रखा। गांधी अपने चिन्तन को विकासात्मक 'गांधीवाद' अथवा 'वाद' के निर्माण के रूप में करना भी नहीं चाहते थे। युग की मांगों का मूल्यांकन करके उन्होंने स्पष्ट कर दिया था "गांधीवाद यदि असत्य पर आधारित है तो उसे नष्ट कर दिया जावे। सत्य व अहिंसा कभी नष्ट नहीं होंगे। यदि गांधीवाद किसी 'सम्प्रदाय' का ही दूसरा नाम हो तो उसका विनाश उचित ही होगा। यदि मुझे मेरी मृत्यु के बाद मालूम हो कि जिन बातों के लिए मैं जिया वे सम्प्रदाय तक सीमित रह गई हैं तो मुझे बहुत दुःख होगा। कोई यह नहीं कहे कि मैं गांधी का अनुयायी हूँ। यह पर्याप्त है कि मैं स्वयं मेरा अनुयायी बना रहूँ। मैं जानता हूँ कि मैं स्वयं मेरा कितना अपूर्ण अनुयायी हूँ क्योंकि मैं उन विश्वासों के अनुसार रह नहीं सकता जिनका मैं समर्थन करता हूँ।"[1]

यहां प्रश्न यह उठता है कि ऐसे व्यक्ति को केवल मसीहा बनाकर पूजना वस्तुतः उनका उपहास करना होगा। वे कभी भी किसी वाद का उस रूप में निर्माण करना नहीं चाहते थे जैसा आजकल अर्थ दिया जाता है। उन्होंने अपने जीवन को सत्य के मार्ग में प्रयोगों तक ही सीमित रखा। प्रयोग में सफलता तथा असफलता दोनों ही सम्भव है पर एक प्रयोग दूसरे प्रयोग को जन्म एवं क्रमबद्धता तो देता ही है।

---

[1] हरिजन फरवरी १९४०

प्रयोगों पर सम-सामयिक प्रभाव भी पड़ते हैं—उनका सामयिक महत्व भी बनता है। पर प्रयोग फिर भी साधन हैं, साध्य नहीं। वे विधियां हैं, विधान नहीं; प्रक्रियाएं हैं निर्माण नहीं।

गांधी पर चिन्तन करते समय खुले दिमाग से विचार करना अपेक्षित होगा। अभी तक जो देश-विदेश में उनके बारे में विचार बने है वे स्वयं बताते है कि उनमें सोचने वालों का दृष्टिकोण कितना हावी रहा। गांधी की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद तक उन्हे सोवियत रूस मे एक 'प्रतिक्रियावादी' माना जाता रहा; उन्हें एक ऐसे व्यक्ति के रूप में पहचाना जो 'लोगो की धार्मिक भावनाओं के शोषण से अपना हित सपादन करता था' तथा "भारतीय स्वतन्त्रता का समर्थन और अंग्रेज सरकार का विरोध करने का स्वांग रचना था।"[1] इस धारणा के मूल में यह हो सकता है कि रूस में धर्म की ही एक प्रतिक्रियावादी ताकत के रूप में भर्त्सना की गई है जबकि गांधी ने अपने सभी वृतों की एक ही धुरी के रूप में धर्म को स्वीकारा। स्तालिन युग की समाप्ति पर जो विचार-वीथी बनी उसमें गांधी पर होने वाले चिन्तन मे मौलिक अन्तर दिखाई दिया। प्रो० लिटमैन गांधी को एक ऐसा मौलिक व्यक्तित्व मानते है जिसका मूल्यांकन तर्क के सामान्य नियमों की कसौटी पर नही किया जा सकता। प्रो० बालबुशेविक के अनुसार कुछ सोवियत लेखकों की गांधी के बारे मे गलत धारणा के मूल मे गांधी के व्यक्तित्व की जटिलता एव उनके सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी

---

[1] ग्रेट सोवियत इन्साइक्लोपीडिया (रूसी ज्ञान कोश)

का अभाव है। बाद के सोवियत लेखक इस इकतरफा दृष्टिकोण से ग्रस्त नही हैं और उन्होंने गांधी के बारे मे वैज्ञानिक चिंतन किया है। उनकी पुस्तकों में गांधीजी को हम भारतीय स्वतंत्रता के एक प्रभावशाली नेता, एक महान देशभक्त, अतर्राष्ट्रीय मैत्री भाव के समर्थक और आश्वस्त मानवतावादी के रूप में देख सकते हैं।"[1] जो हो, गांधी के बारे में देश-विदेश में चिन्तन की जो प्रक्रिया है उसमें पूर्ववर्ती विचारों को नए परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रवृति परिलक्षित होती है। विश्व में गांधी पर चिन्तन मात्र अतीतमुखी नही है।

गांधीजी मूल्यों के संक्रमणकाल में जिए थे। उन्होने 'सक्रांति-जन्य' यातनाओं को भोगा था तथा मूल्यों के पुनर्निर्माण मे योग दिया था। उन्होंने कालक्रम से घिसे-पिटे एवं धूमिल विचारों पर नया पेन्ट चढ़ाया एव उन्हें अपने भाष्य से सामयिक परिस्थितियो के ढांचे में बिठाने में योग दिया। वे जहां उदारमना एवं संत स्वभाव के रहे वहां 'मूल्यों' एवं सिद्धान्तों के प्रश्न पर समझौतावादी नही बने और उन्होंने उचित कठोरता एव पूर्ण निर्भयता का प्रदर्शन किया।

इस पुस्तक में हमारा लक्ष्य यही रहेगा कि गांधी जी के विचारों का विवेचन करते हुए आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उनकी उपादेयता का आकलन किया जावे। गांधी के स्वय के विचार भी परिवर्तन की प्रक्रियाओं मे से निकलते हुए परिपक्व हुए थे—उन्होंने अपने विचारों को सामयिक संदर्भों में क्रियात्मक रूप देने की चेष्टा की थी; परिस्थितियों से उनकी सगति

---

[1] सोवियत लैंड नं० १९ (१९६९) पृष्ठ ८

बिठाने का प्रयास किया था और अपने सिद्धान्तों को बार-बार कसौटियों पर चढ़ाया था।

आज बीस वर्षों बाद उन सिद्धान्तों की शाश्वतता अथवा संगति असंगति पर पुनर्विचार अपेक्षित है। इसी प्रकार का एक प्रयास आगे के अध्यायों में किया हुआ मिलेगा।

सामाजिक फलक पर

गांधी मूलतः एक मानवतावादी समाज सुधारक एवं धर्मात्मा थे। उन्हें मानव के लिए जो प्रयोग करने थे वे सामाजिक धरातल पर ही सम्भव हो सकते थे और मानव की गरिमा में निष्ठा होने के कारण एक समाज-सुधारक के रूप में ही वे सक्रिय और सफल हो सकते थे। परिस्थितियों ने उन्हें राजनीति के मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया—इसलिए, क्योंकि राजनीति से दूर सामाजिक जीवन की कल्पना सम्भव नहीं थी और राजनीति जीवन का इतना अभिन्न अंग बन चुकी थी कि सभी अन्य गतिविधियां किसी न किसी रूप में इससे सम्बद्ध थी।

गांधी राजनेता के रूप में सफल हुए अथवा असफल, यह आगे देखना है। अभी तो इतना कहना ही पर्याप्त है कि राजनीति की सहचरी कूटनीति अथवा स्वार्थ-परता अथवा असत्यवादिता उन्हें उपकरण के रूप में स्वीकार्य नहीं थी। वे राजनीति की 'शुद्धि' में लगे थे फलतः 'शुद्ध' (मात्र) राजनीति उनकी पहुंच के बाहर थी। यदि राजनीति की उपरोक्त कल्पना सत्य मान ली जाय तो गांधी परिस्थितिगत राजनीतिज्ञ एवं स्वभावगत समाज-सुधारक थे।

उनकी 'राजनीति' भी धर्म से निकली हुई एक क्रिया-मात्र थी। वे धर्म-विहीन राजनीति को मात्र 'कूड़ा कचरा'

मान कर उसका निरोध करने के पक्ष में थे।[1]

आज के राजनीतिज्ञों में जो साहस का अभाव है उसका मूल कारण सत्ता की तृष्णा है। सत्ता का सम्बन्ध चुनाव से चुनाव का मत से और मत का जनता के विभिन्न वर्गों को खुश रखने से है। यदि 'खुश' रखने की बात का निर्वाह ही करना है अर्थात् सत्ता तक पहुंचने के लिए मतों को सुलभ करना है तो फिर ऐसे किसी भी कार्य को भिड़ों का छत्ता समझ कर छोड़ देना पड़ता है जिससे 'जनता' नाराज हो जाय या वर्ग-विशेष के हितों पर कुठाराघात हो। दूसरे शब्दों में जनता का विरोध मोल लेकर सुधार करना आज के राजनीतिज्ञों के लिए दुष्कर कार्य है।

गांधीजी सत्ता-प्रेमी नहीं थे; राज्य-सत्ता से अलग रह कर भी उस पर अकुश रखने वाले सत थे। उनका जनता पर जबरदस्त प्रभाव होना ही था और उन्होने उस प्रभाव का समुचित उपयोग किया। वे विरोध से विचलित होने वाले नही थे; निर्भीक थे अतः स्पष्ट वक्ता थे, विचारक थे अतः सुलझे हुए थे; समाज की कमजोरियां जानते थे अतः निदान मे सक्षम थे।

उन्होंने समाज की खोखली जडों को पुनः दृढ़ धरातल दिया—धमनियों में नया खून दौड़ाया—जीवन को एक गति दी और गति को दृढता। गांधी मानवता के बटवारे में नहीं, समग्रता में विश्वास करते थे। वे हिन्दू, मुस्लिम, सिख,

---

[1] "For me, Politics bereft of religion are absolute dirt, ever to be shunned." (All men are brothers—UNESCO publication—69)

ईसाई के 'लेबल' के नीचे शुद्ध मानव का दर्शन करते थे जो पहले मानव है फिर सिख अथवा ईसाई अथवा हिन्दू है।

धर्म की संकीर्णता पर आधारित वर्ग-संघर्ष दंगों अथवा बलवों को जन्म देते हैं; उसका वीभत्स दृश्य हम अलीगढ, अहमदाबाद एवं अन्यान्य स्थानों पर देख चुके हैं। गांधीजी ने इस रोग को प्रारंभ से ही पहचान लिया था। धर्म को सीमाओं में बांधने वाले संकीर्णता से सोचते हैं--अन्य धर्मों को पारस्परिक संशय से देखते हैं;'स्वधर्म' की वरिष्ठता एवं अन्य धर्मों की लघुता में विश्वास करते हैं। यही मूल है—इसके आगे विस्फोट है, विप्लव है, अशांति है। संशय की दीवार प्रेम के स्वच्छन्द आवागमन को रोकती है।

"मेरी हिन्दू धर्मवृत्ति मुझे सिखाती है कि थोड़े या बहुत अंशों में सभी धर्म सच्चे हैं। सबकी उत्पत्ति एक ही ईश्वर से हुई है परन्तु सब धर्म अपूर्ण हैं, क्योंकि वे अपूर्ण मानव-माध्यम द्वारा हम तक पहुंचे हैं। सच्चा शुद्धि का आंदोलन यह होना चाहिए कि हम सब अपने-अपने धर्म में रह कर पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करें।" [१]

धर्म के नाम पर अत्याचार करने अथवा खून-खच्चर करने की स्वीकृति नहीं मिल सकती। यहां धर्म में श्रद्धा नहीं ढकोसला आ जाता है। वह औपचारिक बनकर मात्र एक संप्रदाय का रह जाता है। "जो मनुष्य अपने धर्म के

---

[१] यंग इंडिया २९-५-१९२४

हृदय तक पहुंच जाता है वह स्वतः ही दूसरे धर्मों के हृदयों तक भी पहुंच जाता है।[1] गांधी ने इस प्रकार अपने धर्म का निर्वाह करते हुए अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की शिक्षा दी। अनुभवों के आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि (१) सारे धर्म सही हैं (२) सब धर्मों मे कुछ न कुछ त्रुटियां हैं (३) सारे धर्म हिन्दू धर्म की तरह (मुझे) प्यारे हैं। यह मानव-माध्यम की कमजोरी है कि वह अपनी अपूर्णता मे धर्म को अपूर्ण बनाने मे योगदान करता है।

आज के भारत में भी ये विचार पूर्णतया सही एव प्रभावशाली हैं। ये ज्योति-अणु हैं जो बिखर-बिखर कर समाज को प्रकाश देने की शाश्वत स्थिति में हैं।

गाधी धर्म से अधिक धार्मिक व्यक्तियो की कमजोरियों से परिचित थे। रोग के वास्तविक कारण तो वे हैं जो अपनी स्थिति सुरक्षित रखने के लिए धर्म के नाम पर नए नए नारे देते हैं; पूजापाठ, आडम्बर, धूपदीप के माध्यम से दूसरी विधियों से 'अलगाव करते हैं।

आज के भारत मे भी यह रोग क्रोनिक (विषम) बन गया है जो अपनी विस्फोटक स्थिति मे है। शास्त्रो की आत्मा से सदर्भों को काट-छाट कर प्रस्तुत करने वाले मठाधीश या फतवे देने वाले मुल्ला लोग अभी भी अवसर पा कर वैमनस्य की आग सुलगा देते हैं। पिछले दिनों अस्पृश्यता को शास्त्र-सम्मत सिद्ध करने का जो असफल प्रयास किया गया, उसके विरुद्ध देश भर का जनमत विद्रोह कर उठा था—पर सामाजिक विघटन की पर्वाह उन्हें क्यों हो जो 'फतवे' देना जानते हैं अपनी गद्दियां पक्की रखते हैं या ऊंचे आसनों से उद्घोषणाएं अथवा

---

[1] All men are brothers—59

आप्त वाक्य परोसते हैं ? अस्पृश्यता हिन्दू समाज के शरीर में कोढ़ हो या न हो, मठाधीशों की 'जीविका' को कायम रखने वाला साधन तो हो ही सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो गांधीजी के ये वाक्य सुभाषितों का स्वरूप धारण कर लेते हैं।

भारत की अहं समस्या हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य है। गांधी ने दोनों सम्प्रदायों को संवाद की स्थिति में लाने का प्रयास किया—दोनों का ध्यान राष्ट्रीयता की समस्या की तरफ ले जाकर धर्म के सकीर्ण दायरे से हटाया ताकि स्वतन्त्रता के यज्ञ में वे साझीदार बन सकें। उन्होंने अपने आपको ईश्वर के समर्पित कर दिया। उनका ईश्वर रूढ़ अर्थ में कोई अवतार या पैगम्बर न था बल्कि कुछ और ही था। "मेरे लिए सत्य और प्रेम ही ईश्वर है। ईश्वर नैतिकता और निर्भयता है। ईश्वर जीवन और प्रकाश का स्रोत होते हुए भी इन दोनों से ऊपर और पृथक है।"[1] ईश्वर को सत्य की व्यापकता से जोड़ कर गांधी ने उसे वह 'विराट' स्वरूप दिया जिसे कोई भी धर्मावलंबी बिना 'रिजर्वेशन' के स्वीकार कर सकता है।

गांधी, युग के दिखावे और 'हिपोक्रिसी' को जानते थे। उनकी मान्यता थी कि 'जिस तरह मैं वेदों या कुरान के प्रत्येक शब्द को ईश्वर-प्रेरित नहीं मानता वैसे ही बाईबिल के प्रत्येक शब्द को भी ईश्वर-प्रेरित नहीं मानता, बेशक इन पुस्तकों की समस्त वाणी ईश्वर प्रेरित है………… मेरे लिए बाईबिल उतनी ही आदरणीय धर्म-पुस्तक है जितनी गीता या कुरान।" युग का दिखावा यह है कि

---

[1] हरिजन ६-३-३७

वह धर्म के मुखौटे से शैतान का रास्ता सहज बनाता है। गांधीजी ने आज के यूरोप को ईसाई धर्म की भावना का प्रतिनिधि मानने से इन्कार किया था और शैतान भावना का प्रतिनिधि माना क्योंकि "शैतान की सफलता तब सबसे अधिक होती है जब वह अपनी जबान पर खुदा का नाम लेकर आता है।"[१]

गाधी ने सत्य को ईश्वर माना, इसका अर्थ यह हुआ कि उनकी दृष्टि में असत्य पर आधारित सभी काम अधार्मिक एवं अनैतिक थे—यह स्थिति वास्तव मे धर्म और ईश्वर के प्रचलित अर्थ से बिलकुल कटी हुई अपने आप मे मौलिक थी और इसीलिए उन लोगो को सहज ग्राह्य थी जो धर्म के बाहरी (भौतिक) एवं घिनौने स्वरूप से असंतुष्ट थे। गाधीजी सत्य और ईश्वर को एक दूसरे का पर्याय मानते थे। उनका विद्रोही उस ईश्वर को ईश्वर मानने को भी तैयार नहीं था जो असत्य का अथवा अन्याय का ईश्वर हो—वे उसकी पूजा करने से इन्कार करते थे। जब ईश्वर मे 'ईश्वरत्व' हो न हो तो फिर 'वंदे' में वदगी क्यों हो ?

धर्म तक मनुष्य की पहुंच मानव-माध्यम से ही होती है। चूंकि मानव-माध्यम अपूर्ण है अतः धर्म भी थोडी बहुत मात्रा मे अपूर्ण है। मनुष्य की पूर्णता अपने धर्म के दायरे में रहकर उसको 'पूर्ण' बनाने मे है—इसका तात्पर्य यह है कि दबाव अथवा प्रलोभन से धर्म-परिवर्तन करना दोषपूर्ण है क्योंकि जिस धर्म को अंगीकार करने की बात है वह भी तो मानव-माध्यम के कारण 'अपूर्ण' ही है। अपूर्णता

---

[१] यग इण्डिया ८-६-२०

से अपूर्णता की तरफ प्रस्थान करने से तो समस्या का समाधान हो नही सकता।

गांधीजी के जीवन-काल में भी ईसाई मिशनरी हरिजनों, दलितो एव गरीबों को प्रलोभनों के आधार पर अपने धर्म में दीक्षित करते थे। आज की स्थिति उससे भी ज्यादा भयावह है। नागालैण्ड मे ईसाई मिशनरियों की हलचल और नए प्रात का निर्माण; पादरी स्कॉट का निष्कासन, कासा योजना की अतर्निहित भावना ये सब बातें हमें यह सोचने के लिए बाध्य करती है कि गांधी की चेतावनी आज भी उतनी ही सार्थक है जितनी उनके जीवनकाल में थी।

उन्होंने कहा था कि, "मुझे ईसाई धर्म-प्रचारकों की एक रिपोर्ट पढी हुई याद है जिसमें बताया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति का धर्म बदलने में कितना खर्च हुआ और फिर अगली फसल के लिए बजट पेश किया गया था।"[1] इस फसल के लिए गरीबी, अशिक्षा एव अज्ञान खाद का काम करते हैं। गांधी के विचारों में धर्म-परिवर्तन के पीछे जो भावना है वही सामाजिक असुरक्षा के लिए उत्तरदायी है। वे न तो हिन्दू को ईसाई बनाना स्वीकार करते थे और न ही ईसाई को हिन्दू बनाने के पक्ष मे थे। "यदि कोई ईसाई भगवद्गीता से प्रभावित होकर मुझ से कहे कि मैं हिन्दू बनना चाहता हूं तो मैं कहूंगा नहीं, तुम्हें भगवद्गीता जो दे सकती है वह बाईबिल में भी है। तुमने इसे खोजने का

---

[1] यंग इण्डिया २१-४-३१

प्रयत्न नहीं किया। अच्छे ईसाई बनने का प्रयास करो।"[1] गाधी के धर्म सम्बन्धी कुछ विचार जो हमें अप्रासंगिक लग सकते हैं उसके मूल मे यही है कि वे धर्म की प्रक्रियाओं को निजी आस्था का विषय मानते थे तथा उन्हे तर्क से नहीं विश्वास से देखते थे। उन्होने "धर्म को अत्यन्त व्यक्तिगत वस्तु" माना है। यह बात अगर मान लें तो फिर सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे धर्म के नाम पर विवाद नही रह सकता।

गांधी ने आत्मानुशासन एव आत्मनियन्त्रण के प्रयोगों के माध्यम से जो शक्ति अर्जित की थी वह साधारण मानव में आ पाना कठिन है। उनकी अहिंसा मे कायरता की ध्वनि नही निर्भयता का नाद था। वे व्यक्ति एव समाज मे अनुशासन और आत्मनियंत्रण के पक्षपाती थे। हम यह कह सकने की स्थिति मे तो नही हैं कि गांधीजी के आत्मानुशासन एव आत्मशुद्धि के विचार वर्तमान परिप्रेक्ष्य में असंगत है। गाधी उसमे सफल हुए इसका मूल कारण उनके व्यक्तित्व की 'पूर्णता' और प्रयोगों की सिद्धि थी। आज का मानव समाज से अपने आपको कटा हुआ महसूस करता है—उसके लिए समाज की तरफ से सुरक्षा या न्याय का आश्वासन नही है। वह कुंठाग्रस्त है; निराश है और विद्रोही है। वह आत्मशुद्धि करे या समाज की शुद्धि के लिए आततायी ताकतों से लोहा ले? आत्मानुशासन रखे या रोटी के लिए संघर्ष करे? गांधी के ये वाक्य—'आत्मशुद्धि का अर्थ जीवन की सभी पहलुओं से शुद्धि होने में

---

[1] All men are brothers—p. 63

है।"[1] अथवा, "हर एक आदमी, दूसरे क्या करते हैं उसे न देखे बल्कि अपनी ओर देखे और जितनी आत्मशुद्धि कर सके, करे।[2]" अथवा "अनासक्त कार्य शक्तिप्रद है क्योंकि अनासक्त कार्य भगवान की भक्ति है।"[3] उस समय तक सही अर्थों में जीवन में नहीं उतारे जा सकते जब तक वर्ग-संघर्ष; अन्याय, उत्पीड़न, घुटन एवं शोषण-वृत्ति है। पर इसका यह आशय नहीं कि सैद्धान्तिक रूप से ये बातें त्रुटिपूर्ण हैं। हम विचार के धरातल पर इनका विवेचन नहीं कर रहे हैं अपितु समाज से उखड़े हुए प्राणियों में ऐसी आशा कहाँ तक अपेक्षित हो सकती है, इस संदर्भ में सोच रहे हैं। डा० राधाकृष्णन के इन विचारों से भी हमारी उपरोक्त शंका को आधार मिलता है।

"हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जो अपनी पराजय एवं नैतिक पीड़ाओं से परिचित है– एक ऐसे युग में जी रहे हैं जिसमें पुरातन (निश्चित) मान टूट रहे हैं; परिचित पद्धतियों में तरेड़ें आ रही हैं। असहनशीलता और कटुता बढ़ती जा रही है।"[4] क्या गांधीवाद इन टूटती हुई मान्यताओं और लकवा खाए विश्वासों में कुछ 'सहारा' दे सकेगा—यह सोचने का विषय है।

कुछ विचारक गांधी से इसलिए सहमत नहीं हो पाते

---

[१] सत्य ही ईश्वर है, पृष्ठ ५४

[२] प्रार्थना प्रवचन भाग २, पृष्ठ ३०६

[३] बापू के आशीर्वाद, पृष्ठ २५०

[४] डॉ० राधाकृष्णन की भूमिका (All men are brothers)

क्योंकि उन्होंने "धर्म" का पुनरोदय किया और उसे राजनीति में घसीटा। ऐसे विचारक धर्म को उस संस्थाबद्ध पद्धति के रूप में देखते हैं जो संगठित आधार पर मानवता का पार्थक्य करती है और घृणामूलक है। मानव-मानव में प्रेम का आधार यदि धर्म है तो मानव-मानव मे घृणा का आधार भी यह 'संस्थाबद्ध सगठित' पद्धति है जिसे धर्म की संज्ञा दी गई है। गांधी चूंकि संकीर्ण अर्थों में धार्मिक प्रवृत्ति वाले नहीं थे अतः ये विचार उन पर लागू नही हो पाते;। हां, वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे धर्म को राजनीति से जोड़ने वाले व्यक्ति कितने अर्थों मे गांधी जी के धर्म की कल्पना से कार्य करते हैं—यह देखने की बात है। अभी तक का अनुभव तो इससे मेल नही खाता। राजनीति में विश्वबंधुत्व की बात लाने वाले धर्म के क्षेत्र में उसी सकीर्ण 'सस्थाबद्ध' प्रवृत्ति से सोचते हैं। चुनावों में धर्म के आधार पर मतों का बटवारा होता है, मन्त्रि-मडल में भिन्न-भिन्न धर्मों को प्रतिनिधित्व दिए जाने के प्रश्नों पर मतभेद अथवा संघर्ष होते हैं, धर्म के आधार पर विधेयक बनते या गिरते हैं क्योंकि लोग 'धार्मिक भावनाओं को ठेस" न पहुंचाने के लिए बड़े से बड़ा समाज सुधार रोकने को तैयार हैं। और ये धार्मिक भावनाएं भी इतनी कोमल हैं कि जरा-सी खरोंच पर ही घायल हो जाती हैं, जरा-सी उत्तेजना पर ही 'मानिनी नायिका'-सी 'कोपभवन' में चली जाती हैं। अतः इन अर्थों में धर्म का रूढ़ अर्थ यदि राजनीति मे जोड़ा जाएगा तो देश की शांति हमेशा अग्नि-परीक्षाओं मे से निकलती रहेगी।

गांधी के जीवन की कुछ निजी आस्थाओं से हमारा

यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि वे कहते हैं कि "बिना उपवास के प्रार्थना बेजान-सी चीज है" या "उपवास प्रार्थना का विशुद्ध रूप है" अथवा "प्रार्थना ने मेरे जीवन को बचाया है इसके बिना मैं बहुत पहले ही पागल हो जाता ' या "शरीर के लिए जितना भोजन आवश्यक है, आत्मा के लिए प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य है" तो हम उसका मूल्यांकन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसलिए नहीं करते क्योंकि ये उनकी निजी आस्थाओं से सम्बन्धित बाते हैं। गांधी का यह आग्रह कभी नहीं रहा कि उनकी निजी आस्थाओं को अनिवार्य रूप से सार्वजनीन बनाया जावे।

गांधी की सर्वाधिक आलोचना उनके ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विचारों तथा परिवार-नियोजन के उपकरणो की अस्वीकृति पर की जाती है। आज सारा देश परिवार के बढ़ते हुए आकार—जनसंख्या के संक्रामक रोग—से ग्रस्त है। हर डेढ़ मिनट में एक नया आगमन राष्ट्र की जड़ों को खोखली कर रहा है। सन् १९६१ मे ४३ करोड़ से कुछ ऊपर की जनसख्या १९७१ तक ५२ करोड़ से ऊपर हो जाने की स्थिति में है। इस अनुपात से प्रति वर्ष लगभग एक करोड़ लोग भारत की जनसख्या में जुड़ जाते हैं। पूरे देश का मानस परिवार नियोजन के कृत्रिम उपकरणों के प्रयोग में लगा है; यदि ऐसे अवसर पर गांधी जी के विचारों को धुरी मान कर चलें तो जनसंख्या की इस अबाध प्रगति को रोकना सर्वथा असंभव हो जाएगा। गांधी ने अपने कष्ट सहन की क्षमता, नैतिक आचरण एवं आत्मानुशासन से जो 'पूर्णता' प्राप्त की थी वह साधारण स्त्री-पुरुष में अपेक्षित

नही की जा सकती । ऐसी स्थिति में यह कहना कि जनसंख्या निरोध का एकमात्र उपाय आत्म-सयम या ब्रह्मचर्य है और यही रामबाण उपाय है, सफलता के नजदीक ले जाने वाला नही है। हम और किसी चीज की उपेक्षा कर सकते हैं पर सभवतः इस विषय पर शिथिल होना स्वीकार नहीं कर सकते । गांधीजी ने परिवार-नियोजन के कृत्रिम साधनों को सर्वथा अस्वीकृत कर दिया था । उन्होने कहा कि "कृत्रिम साधनों की सलाह देना मानो बुराई को बढ़ाना है। उससे पुरुष और स्त्री दोनों उच्छृंखल हो जाते हैं" तथा "डाक्टर लोगों का मानव जाति पर बड़ा उपकार होगा यदि वे संतति-नियमन के लिए साधनों की तजबीज करने के बजाय आत्म-संयम के साधन निर्माण करें"[1] क्योंकि उनकी राय मे प्रकृति बड़ी कठोर शासक है। वह अपने कानून भंग का बदला बिना आगा-पीछा सोचे चुकाती है। केवल नैतिक सयम से ही हमें नैतिक फल मिल सकता है।"[2]

हमारी आपत्ति यह है कि भोगेच्छा स्वाभाविक वस्तु है और 'अपूर्ण' एवं 'साधारण' स्त्री-पुरुषों से उस सयम की कल्पना नही की जा सकती जो महात्मा गाधी ने प्राप्त किया था। कृत्रिम उपायो के सहारे के बिना स्त्रियों के लिए प्रजोत्पत्ति बोझिल हो जाती है तथा राष्ट्र का स्वास्थ्य बिगड़ता है। गांधी के विचार कि "जो पुरुष और

---

[१] हिन्दी नवजीवन १२-२-१९२५

[२] हिन्दी नवजीवन १२-२-२५

स्त्रियां……कृत्रिम साधनों के पक्ष में आन्दोलन कर रहे हैं, वे देश के युवकों की अपार हानि कर रहे हैं" इस परिप्रेक्ष्य में संगत नहीं है अतः परिहार्य लगते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हमें आत्म-संयम अथवा ब्रह्मचर्य की शक्ति में शंका है। शंका तो हमें अपनी पूर्णता में है। गांधीजी न तो कृत्रिम साधनों के पक्ष में थे और न वन्ध्यीकरण के समर्थन में ही थे। उनके मत में "लोगों पर वंध्यीकरण का कानून लादना मैं अमानुषिक मानता हूं"[1] अतः "अगर कृत्रिम उपायों का उपयोग आम तौर से होने लगे तो वह समूचे राष्ट्र को पतन की ओर ले जाएगा।"[2] आज की स्थिति में महात्मा गांधी के ये विचार अनुकरणीय नहीं हैं अतः देशहित में परिवार-नियोजन के लिए कृत्रिम उपायों का प्रचार प्रसार ही उचित है।

स्त्रियों के बारे में अनेक मनीषियों ने भिन्न भिन्न व्यवस्थाएं दी हैं। मनु जहां "मा भजेत नारी स्वतन्त्रताम्" कह कर युगों तक महिला-दमन का भागीदार बना वहां कई अन्य लोगों ने अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार नारी को समय के ढांचे में ढाला। गांधी जी संभवतः प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने नारी को पूरे राष्ट्रीय जनजीवन की धारा से जोड़ा तथा उसमें वे ही शक्तियां, अर्हताएं एवं ऊर्जाएं देखीं जो पुरुष-वर्ग में हैं। मनु से स्पष्ट बगावत करते हुए उन्होंने उक्त सूत्र को ब्रह्म वाक्य मानने से इन्कार कर दिया।

---

[1] यंग इंडिया २-४-२५

[2] हरिजन सेवक ११-३-४६

उनका विद्रोही धर्मशास्त्रों की ऐसी व्याख्याओं एवं व्यवस्थाओं के सर्वथा विरुद्ध था जो मानवता के आधे भाग से धर्म के नाम पर षड्यन्त्र करते हैं। उन्होंने कहा कि, "कोई ऐसी अधिकारी संस्था होनी चाहिए जो धर्म-शास्त्र के नाम पर चलने वाली सभी पुस्तकों को फिर से देखे, उनमें से वे सारे वचन निकाल दे जिनका कोई नैतिक मूल्य न हो और जो धर्म और सदाचार के बुनियादी उसूलों के खिलाफ हो।"[1] अन्य मनीषियों एवं संतों ने जहां धर्म के मानदंड से नैतिक आचरणों को नापा वहां गांधीजी ने नैतिक आचरणों के अनुकूल धर्म का भाष्य किया। गांधी के लिए सदाचार पहले और धर्म-ग्रंथ बाद की चीज बन गए। आज जब धर्म-ग्रंथों के आधार पर अस्पृश्यता को सही बताने का प्रयास हो रहा है तो फिर गांधीजी के क्रांतिकारी विचार ही हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं।

गांधीजी स्त्रियों को अधिकार देने में रुकावट पसन्द नहीं करते थे। उनका कथन था कि "मैं स्त्रियों के अधिकारों के बारे में कोई समझौता स्वीकार नहीं कर सकता। कानून की तरफ से स्त्री के लिए ऐसी कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए जो पुरुष के लिए नहीं है।"[2] "स्त्री को अबला मानना उसकी मान-हानि करना है—यह पुरुष का स्त्री के प्रति अन्याय है।"[3] स्त्री मानसिक रूप से उतनी ही सक्षम है, जितना पुरुष अतः इस आधार पर उसके अधि-

---

[1] हरिजन २८-११-३६

[2] हरिजन १७-१०-२६

[3] यंग इंडिया १०-४-३०

कारों को क्षीण करना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। गांधीजी स्त्रियों को मतदान का हक और समान कानूनी दर्जा दिलाने की हिमायत करते रहे और अततोगत्वा इसमें सफल भी हुए।

गांधी जी ने सामाजिक क्षेत्र में विद्रोही की भूमिका का निर्वाह किया। वे बाल-विवाह को प्रामाणिक नहीं मानते थे और यदि धर्म-विधि से उसे सगत भी ठहरा दिया जाता तो वे उसे रद्द करने की हिमायत करते थे। हिन्दू धर्म के व्यंग्य से वे परिचित थे—उसके व्यामोह का उन्हें ज्ञान था तभी तो उन्होंने कहा कि "जो लड़की गोद में बैठने लायक ही हो उसे पत्नी बनाना धर्म तो नहीं है, लेकिन अधर्म की पराकाष्ठा जरूर है।"[1] अतः वे उस विवाह को "धर्म-संगत" होते हुए भी नैतिकता-संगत नहीं मानते थे। यही नहीं हर अनिच्छा से थोपा हुआ विवाह विवाह की संज्ञा प्राप्त ही नहीं करता। "जिस लड़की के मां-बाप उसकी मरजी के बिना या आर्थिक या दूसरे लाभ के खातिर ब्याह दें उसे मैं विवाहित मानता ही नहीं।"[2]

कानून से जो कार्य नहीं होता उसे सामाजिक प्रतिरोध की जरूरत होती है। शारदा एक्ट के समय से जो बाल-विवाह कानूनन जुर्म है वही भारत भर में धड़ल्ले से, गाजे-बाजों और रस्म अदायगी से होता है। सामूहिक

---

[1] *यंग इडिया १८.८.२७*

[2] यंग इंडिया १८.८.२७

शादियों के अवसर पर हजारों कन्याएं नए नए परिवेशों में अनिच्छा से फेंक दी जाती हैं—उन्हें ऐसे रंगमंचों पर खड़ा कर दिया जाता है जहां वे अपनी भूमिकाओं तक से अपरिचित होती हैं। बाल-विवाह बाल-वैधव्य की समस्या की अगुवाई करते हैं। गांधी ने बाल-वैधव्य को वैधव्य ही नहीं माना। ऐसी स्थिति में वैधव्य के लिए बाध्य करना पाशविक अपराध है और उसका निवारण होना चाहिए।

गांधीजी के विधवा-विवाह सम्बन्धी अन्य विचार युग की धारा से कटे कटे से लगते हैं। वे स्वेच्छा से शादी करने को स्वेच्छा से वैधव्य भोगने की आवश्यक भूमिका मानते हैं। 'जिन्होंने सयाने होकर स्वेच्छा से विवाह किया हो ऐसी कोई विधवा अथवा विधुर दुबारा ब्याह करे तो उसको पाप करार देने वाले हिन्दू कानून के किसी भी सुधार की मैं हर वक्त हिमायत करूंगा।'[1] गांधी ने विवाह की बात को पुनर्जन्म या देहान्तर की जिस मान्यता से जोड़ा है वह भी इस तार्किक युग में कोई विशेष महत्व नहीं रखती।

इनके अन्य विचार जो हमें युगानुकूल नहीं लगते वे परभोग अथवा तलाक सम्बन्धी हैं। वे किसी तथ्य का निर्णय अतिरेक से लेते थे। उनका निर्णय इस अथवा उस सिरे का होता था। उनकी नैतिकता हां अथवा ना तक सीमित थी और उसमें जोड़-तोड़ की गुंजायश नहीं थी। "यह तो मुझे सूर्य की तरह साफ दिखता है कि गर्भ

---

[1] हरिजन १८-११-३६

गिराना अपराध होगा "[1] अथवा "हिन्दू पत्नी को तलाक तो मिल नहीं सकता" जैसे विचार युग-धारा की पकड़ से परे हैं। हो सकता है कि वे तलाक के पक्ष में हों पर उन्होंने उसका विशेष समर्थन नहीं किया। आज के भारत में गर्भपात और तलाक सामाजिक जीवन में प्रमुख स्थान पा चुके हैं। गर्भपात को कानूनी मान्यता देने की बातें जोरों पर हैं तथा तलाक पहले से ही विधिवत् न्यायसगत रूप से कानून का जामा पहन चुका है।

गांधी के ये विचार कि "पति के पाप में शरीक होना पत्नी का फर्ज नहीं है……जब एक साथी अनुशासन नियम भंग करता है तो दूसरे को बन्धन तोड़ने का अधिकार हो जाता है। यहां तोड़ना नैतिक अर्थ अभिप्रेत है, शारीरिक नहीं "[2] हमें तलाक की तरफ ले जाते हुए लगते हैं पर खुल कर समर्थन में नहीं आते। वे नैतिकता की सील तो लगाने को तैयार हैं पर "हस्ताक्षर" करने से कतराते हैं। यदि विवाह की संस्था नैतिक कारणों से 'तलाक' चाहती है तो गांधी इस उपाय को स्वीकार कर सकते हैं। पर उसमें उनकी हिचकिचाहट और उनका अनमनापन अवश्य रहता है। इसका कारण यह है कि गांधी हर मनुष्य से नैतिक अनुशासन एवं संयमवृत्ति की अपेक्षा रखते हैं और हर परिस्थिति में रखते हैं। वे नैतिक जीवन के नियमों को रेखागणित के नियमों की तरह हर जगह लागू करना चाहते हैं। उनके 'पूर्ण' मानव की कल्पना ही

---

[1] यंग इंडिया ३-१-२६

[2] यंग इंडिया २१-१०-२६

आज के युग से मेल नहीं खाती फिर इतर बातें तो बाद में आती हैं।

गांधी ने समाज की हर बुराई का उन्मूलन करने का अभियान चलाया था। उनकी पत्रकारिता का लक्ष्य सामयिक समाचारों का प्रसार नही अपितु सामाजिक बुराइयों का विरोध करना था। गांधी का विद्रोही स्वरूप जितना और किसी बिन्दु पर परिलक्षित नही हुआ उतना शराबबंदी पर दृष्टिगत हुआ। वे मद्यपान को एक सामाजिक अभिशाप, एक अनैतिक कर्म, एक अत्यन्त घृणित स्वभाव मानते थे और उसको तत्काल ही बंद कर देने के पक्ष में थे। उसमें आगा-पीछा सोचने और समय खोने की बात वे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। हम उनके विचार तीन मुख्य बिन्दुओं में वर्गीकृत कर सकते हैं।

प्रथम विचारों के अनुसार "यदि मुझे घंटे भर के लिए भारत का सर्वाधिकारी (डिक्टेटर) बना दिया जाय तो मैं सबसे पहले तमाम शराबखाने बिना मुआवजा दिए बंद करा दूंगा। कारखानों के मालिकों को मजबूर करूंगा कि वे मजदूरों के लिए मानवोचित परिस्थितियां पैदा करें और जलपान तथा मनोरंजन घर खोलें ताकि उन्हें निर्दोष पेय एवं निर्दोष मनोरंजन मिल सके। यदि वे पैसे की तंगी की बात करेंगे तो मैं उनके कारखाने बंद करा दूंगा।"[1] गांधीजी ने वैसे अपनी "डिक्टेटरशिप" से होने वाली आर्थिक समस्या पर भी लिखा है पर वे विचार दूसरे बिन्दु

---

[1] यंग इंडिया, पृष्ठ १५५ (२५-६-२१)

में समाहित होंगे।

शराब-बन्दी से आय के साधनों में जो एकाएक कमी आती है उसको राज्य कहां तक सहन कर पाएगा—इस प्रसंग में उनके सुझावों के अनुसार "मैं सीधे फौजी खर्च घटा दूंगा और सेनापति से अपेक्षा करूंगा कि वह नई परिस्थिति के अनुसार अपना काम यथासंभव बढ़िया चलावे।"[1] अन्य बातों में उन्होंने सुझाव दिया कि "मैं भारत का कंगाल हो जाना पसंद करूंगा पर मैं यह बरदास्त नहीं कर सकता कि हमारे हजारों लोग शराबी हों। अगर भारत में शराब-बन्दी जारी करने के लिए लोगों को शिक्षा देना बन्द करना पड़े तो कोई पर्वाह नहीं। मैं यह कीमत चुका कर भी शराबबंदी करूंगा।"[2] उन्होंने बीड़ी सिगरेट पर कर लगाने, थोड़ी मियाद वाले कर्ज लेने, केन्द्रीय सरकार से फौजी खर्च में कमी करके उसी अनुपात में राज्यों को मदद देने आदि के अन्य सुझाव भी दिए। उन्होंने शराबियों को धड़ाधड़ सजाएं देने की भी हिमायत की।

राज्य के स्तर की ये दो बातें हुईं। सामाजिक स्तर पर उन्होंने स्वयं वातावरण बनाया। धर्मग्रंथों के हवाले दिए, राष्ट्र के पतन की ओर इशारे किए, स्त्रियों को इस ओर पूरी शक्ति लगा देने का आह्वान किया। उन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर शराब पीने की आजादी

---

[1] यंग इंडिया, पृष्ठ १५५ (२५-६-३१)

[2] यंग इंडिया, पृष्ठ १५५ (२५-६-३१)

का उपहास करते हुए लिखा कि "राज्य अपनी प्रजा के दुर्व्यसनों के लिए इतजाम नही करता। हम वेश्यालयो का नियमन नही करते अथवा उनके लिए परवाने नही देते। हम चोरो की चोरी की कुटेव जारी रखने के लिए सहूलियतें मुहैया नही करते।"[1]

यदि हम इन तीनों विचारो का आज के भारतीय जीवन के सदर्भ मे विचार करें तो एक बात स्पष्ट हो जाती है। गांधीजी ने इन विचारो का प्रचार १९२६-२७ से जोर-शोर से शुरू कर दिया था। उसके बाद अतरिम रूप से १९३७ से १९३९ तक कई प्रातो में कांग्रेसी सरकारे भी बनी तथा आजादी के बाद हमीं लोग अपने भाग्य-विधाता बन गए। इन विचारों के प्रचार के बाईस वर्षों तक गांधी जी जीवित रहे तथा आज उनकी मृत्यु को लगभग उतने ही वर्ष हो चुके हैं। इन ४४ वर्षों मे क्या भारत में शराबबदी सभव हो सकी है? क्या पूर्ण शराबबदी के लिए विधेयक बनाए गए या सरकारी उत्सवों मे इसका प्रयोग रोका गया? हमारा अनुभव यह बताता है कि कई मत्री और अधिकारीगण मद्यपान के पक्ष मे हैं और इसे अपने जीवन का अग बना चुके है—उनके लिए इसे रोकना कठिन है। कुछ ठोस गांधीवादी अवश्य इसके विरोध मे प्रचार करते रहते हैं पर या तो विशाल जनबल उनके साथ नही है या वे इसे बनाने में असमर्थ हैं। गांधीजी ने फौजों का खर्च घटाने की बात कही वह आज के भारत में असभव

---

[1] यग इडिया ८-९-२१, पृष्ठ १८१

है। हमारी सीमाएं वैसे ही असुरक्षित हैं फिर फौजी खर्च घटाना अपनी पराजय को स्वयं बुलाना होगा। पराजित *राष्ट्र की संस्कृति में भी पराजय के भाव उग जाते हैं।* गांधीजी देश को कंगाल बनाकर भी या शिक्षा प्रसार रोक कर भी इसे (शराब को) बंद करने के हिमायती थे। ये दोनों बातें भी भावुकता के आवेश में कही गई लगती है।

पर गांधी के विचारों का युग-सत्य उनके बताए हुए साधनो के पंगुपन से नहीं दबाया जा सकता। अकाल और बाढ़ के दिनों में, भूकम्प अथवा तूफानों के समय सरकारी खजाने से करोडों का खर्च होता है; उसे भी तो राष्ट्र सहन करता ही है—राष्ट्रीय आय थोड़ी मियाद के कर्जों से भी *बढ़ सकती है। इन दिनों राज्य लॉटरीज का प्रचार भी* जोरों पर है। आय के अन्य साधन भी निकाले जा सकते हैं। यह बात अवश्य है कि संभवतः उस अनुपात में न *निकल पाएं जितनी क्षति की संभावना है। पर यह बात* सामाजिक धरातल पर ली जा सकती है। हमने परिवार-नियोजन के प्रचार का जो अभियान चलाया है उससे आधा भी सरकारी एवं सामाजिक स्तर पर शराब-बंदी के लिए चलाएं तो प्रबल जनमत तैयार हो सकता है। इसके लिए मंत्रियों एवं अधिकारियों के लिए जिस तरह खादी पहनने की अनिवार्यता रखी गई है उसी प्रकार शराब-बन्दी *की भी अनिवार्य शर्त होनी चाहिए। केवल गांधी जयन्ती* पर चार दिनों के लिए शराब रोक देना तो उस महामानव की आत्मा का उपहास होगा।

राजाओं के प्रिवीपर्स बंद करके, अनुचित मुआवजे

रोक करके एवं आय के अन्यान्य साधन बढ़ाकर के हमें इन विचारों को मूर्त रूप देना चाहिए। इसके लिए क्रांतिकारी कदमों की आवश्यकता है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण का कदम जिस साहस से उठाया गया उसी साहस से शराबबंदी का कदम उठावें तो राष्ट्र का सोया हुआ पौरुष फिर जाग सकता है।

गांधीजी व्यक्ति-गरिमा और मानव-कल्याण के पक्षपाती थे। "सजातीय और विजातीय की भावनाएं हमारे मन की तरंगें हैं। वास्तव में हम सब एक परिवार के हैं।"[1] "ईश्वर के आगे सब आदमी समान हैं। किसी आदमी को इसलिए तिरस्कार से देखना कि वह सहधर्मी नहीं है, ईश्वर और मनुष्य के सामने पाप है।"[2] इतना सब कह कर भी गांधीजी ने शास्त्र-सम्मत वर्ण-व्यवस्था की पुष्टि की तथा उसे सबल दिया पर अस्पृश्यता को कभी भी सहारा नहीं दिया। इसे उन्होंने हिन्दू धर्म का अंग न मानते हुए कहा कि इसमें "घुसी हुई सड़ांध है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, उसका परम कर्तव्य है।"[3] यहाँ तक तो सब लोग गांधी से सहमत हैं और उनका महान् योगदान भी मानते हैं पर वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी उनके सुझाव आज की परिस्थिति में लागू नहीं होते। आज का मनुष्य आजीविका की तलाश में लगा है—उसे ठोकरें खाने और खोज जारी रखने के दो कटु अनु-

---

[1] आत्मकथा २६६

[2] दिल्ली डायरी २१६

[3] यरवदा मंदिर से ७१

अब हर समय होते रहते हैं। अब उसके सामने पूर्वजों के धर्म की मर्यादा नहीं रह गई है। उनका मानस रोटी-मुखी है और उसका फर्ज पेट की परिधि तक रह गया है। गांधी के अनुसार "वर्णाश्रम धर्म कहता है कि अपने शरीर-निर्वाह के लिए मनुष्य अपने पूर्वजों का धंधा करे।"[1] यह बात आज की आर्थिक विभीषिका से असगत है। उनके मतानुसार "वर्ण को मैं अवश्य मानता हूं। वर्ण की रचना पीढ़ी दर पीढ़ी के धंधों की बुनियाद पर हुई है।"[2] जन्म से धंधों की अनिवार्यता जोडना आज के युग मे सभव नही है। विवेकानद ने कर्म से मानव की श्रेणी का निर्धारण किया था—यदि गांधीजी जन्म से धंधे को सम्बन्धित करते हैं तो वे समसामयिक धारा से कट जाते हैं। जाति-प्रथा के उन्मूलन में तो वे इसलिए क्रांतिकारी लगते हैं क्योंकि इससे सामाजिक भेदभाव, मानव-मानव में अन्तर दूर होने की संभावना निहित है पर वर्णाश्रम-धर्म की पुष्टि में वे इसलिए असफल सिद्ध होते हैं क्योंकि इसमे एक आर्थिक पक्ष जुड़ा हुआ है तथा आर्थिक मामलों में एक नैतिक शिक्षा देने वाले सत से इतनी अधिक अपेक्षा करना भी ठीक नहीं लगता। गांधीजी के अर्थ-नियोजन के सिद्धान्तों की चर्चा करते समय हम इस प्रसंग में आगे विचार करेंगे।

---

[1] यंग इंडिया २७-१०-२७

[2] वर्ण-व्यवस्था, पृष्ठ ४९-५०

राजनीति : तकनीक का चक्कर

गांधीवाद जैसा कोई सम्प्रदाय नहीं है और मै अपने पीछे कोई सम्प्रदाय (वाद) छोड़ना नहीं चाहता।"[1]

—महात्मा गांधी

"उन्हें उन कुछ महापुरुषों में से एक के रूप में याद किया जाएगा जिन्होंने युग पर अपने विचार की स्थापना की। वह विचार अहिंसा का है।" —एडवर्ड टोमसन

"बीसवीं शताब्दी हिंसा के युग के रूप में वर्णित की गई है और मुझे विश्वास है वे (गांधीजी) इस व्याप्त विचार को महान चुनौती के प्रतीक थे। आगे आने वाले कठिन एवं अंधकारमय दिनों के लिए उनके उदाहरण का प्रकाश निरंतर दीप्तमान रहेगा और विरोधी सिद्धान्तों एवं पारस्परिक अपमानों के शोर में भी उनकी शांत ध्वनि सुनी जाएगी।"[२]

—लॉर्ड माउन्टबैटन

गांधी के शब्दों में गांधीवाद को भले ही मान्यता

---

[1] D. H. Tendulkar : Mahatama Vol. IV, p. 66 67

[२] माउण्टबेटन का गांधी जन्म शताब्दी पर संदेश

नहीं मिली हो पर जिन सिद्धांतों का उन्होंने निष्ठापूर्वक परिपालन किया वे अपने आप में ही 'वाद' बनकर रह गए है। गांधीजी के समर्थन अथवा उनकी आलोचना के आधारबिन्दु ही उनके ये विचार हैं। उनका अहिंसा का सिद्धांत बहुचर्चित एवं आलोच्य-बिन्दु रहा है। आज भी विश्व की विभीषिका को देखते हुए कभी यह लगता है कि इस महात्मा ने संभवत: तात्कालिक उपलब्धि के लिए नहीं, *अपितु शाश्वत शांति के लिए ही अहिंसा का प्रचार किया* था। हिंसा से तात्कालिक सिद्धि तो हो जाती है पर क्या वह शाश्वत रहती है? यह विचारणीय बिन्दु है। इसी तरह अहिंसा तात्कालिक सफलता के स्तर पर यदि कारगर नहीं होती तो क्या उसे त्याज्य मानना चाहिए? साधारण एवं औसत स्त्री-पुरुषों को तात्कालिक समस्याओं से जूझना पड़ता है—उनके लिए तात्कालिक सिद्धि ही पूर्ण सिद्धि का पर्याय होती है। उन्हें न तो इतिहास पर अपनी छाप छोड़नी है और न ही किसी युग का निर्माण करना है। यह युग-पुरुष का काम है कि वह शाश्वतता के आधार पर सिद्धान्तों का पालन करे और जनता को उसके लिए प्रशिक्षित करे।

परमाणु बम एवं अन्य विनाशक शस्त्रों के युग में कभी कभी ऐसा लगता है कि अहिंसा एवं शांति का विकल्प 'पूर्ण विनाश' है। यह एक ऐसा कटु तथा अपच विचार है कि हम अपनी कल्पना में इसे टालने का प्रयास करते हैं—पर वस्तुस्थिति स्वप्नों अथवा उपेक्षाओं से नहीं बदला करती।

गांधी ने अपने-आपको स्वप्नद्रष्टा नहीं माना पर पूर्ण

"व्यावहारिक" एवं सतत् क्रियाशील व्यक्ति समझा। उन्होंने यह मानने से इन्कार कर दिया कि नग्न शक्ति राजनीति में अंतिम निर्णायक होती है। उनके अनुसार इस नग्न शक्ति का मात्र विकल्प अहिसा है जो "मानव के अधिकार क्षेत्र में महानतम शक्ति है। मानव ने अपनी कुशलता से विनाश के जिन महानतम शस्त्रों का आविष्कार किया है अहिंसा उन सबसे शक्तिशाली है। विनाश मनुष्य जाति का कानून नही है" [1] उनकी कल्पना का एक आधार भी है और वह यह है कि जीवन जब विनाश के मध्य में भी कायम रहता है तो विनाश से ऊचा कोई नियम तो होना ही चाहिए। गांधीजी अपने सिद्धान्तो के लिए शत-प्रतिशत से नीचे किसी भी प्रतिशत पर समर्पित होने का भाव नही रखते थे। उनकी मान्यता थी कि "अहिंसा एक सार्वभौमिक नियम है और इसकी उपादेयता विरोधी परिस्थितियों में भी रहती है। वस्तुत: इसकी उपयोगिता की जाच उसी समय होती है जब यह विरोध के बावजूद अपनी क्रिया में सक्षम हो। हमारी अहिंसा एक खोखली एवं निर्जीव वस्तु होगी यदि उसे अपनी सफलता के लिए अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर रहना पड़ा।" [2]

यदि अहिंसा का आधार सत्ताधारी वर्ग की स्वेच्छा नही है तो उनसे प्रतिरोध अनिवार्य हो जाता है। उसे अधिकारियों के आक्रोश का मुकाबला करने के लिए तैयार रहना पड़ता है। उसके लिए एक आत्मिक बल की

---

[1] माइण्ड ऑफ़ महात्मा गाधी, ४६

[2] Selection from Gandhi, 33

आवश्यकता होती है जो आततायियों के शस्त्रों का दृढ़ता से सामना कर सके। गांधी ने अहिंसा को दमन के विरुद्ध वास्तविक संघर्ष का प्रतीक माना। "मैं आततायी की तलवार की तीक्ष्णता को उसके विरुद्ध तीक्ष्णतर शस्त्र लेकर कुण्ठित नहीं करता अपितु उसकी आकांक्षाओं को परास्त करके करता हूं। मैं उसके विरुद्ध कोई शारीरिक प्रतिरोध नहीं करता। आत्मबल का जो प्रतिरोध मैं प्रस्तुत करूंगा वह उसे इंल्यूड करेगा। यह प्रथम तो उसे चौंकाएगा पर अन्त में उससे मान्यता ले लेगा।"[1]

गांधी की अहिंसा में कायरता के लिए कोई स्थान नहीं है। कायरता की अपेक्षा तो वे हिंसा का समर्थन करना अधिक पसद करते हैं। दमनकारी ताकतों के आगे घुटने टेकने का नाम अहिंसा नहीं है। बुराई को देखकर आंख बद कर लेने का नाम भी अहिंसा नहीं है। अहिंसा उदासीनता से काम नहीं करती, सतत् क्रियाशील रहती है। यह दमन के विरुद्ध भयकर लोहा लेती है, शोषण से सघर्ष करती है। इन विचारों से स्पष्ट है कि शस्त्रों के मुकाबले में अहिंसा के पालन करने का अर्थ कष्ट सहन करने की अधिकतम क्षमता प्राप्त करना है।

अहिंसा में सीधी कार्यवाही की वे समस्त शक्तियां निहित हैं जो हिंसक विधियों में हैं। सविनय अवज्ञा, धरना, उपवास, असहयोग आदि उपकरणों से अहिंसक क्रांति लाना सभव है। इन सबके साथ कायरता का तालमेल नहीं बैठ सकता। गांधीजी के विचारों में "मैं एक पूर्ण शस्त्र

---

[1] Selection from Gandhi, 152

सज्जित व्यक्ति को हृदय में कायर होने की कल्पना कर सकता हूं। शस्त्र रखने में यदि कायरता की नहीं तो भय की भावना तो निहित रहती ही है। लेकिन सच्ची अहिंसा बिना पूर्ण निर्भयता के सर्वथा असम्भव बात है।"[1]

अब प्रश्न उठता है कि गांधी का अहिंसावाद अथवा सविनय अवज्ञा आन्दोलन कोई तकनीक है अथवा सत्य के लिए किए गए प्रयोगों में से एक प्रयोग-मात्र है। गांधी ने इसे तकनीक का औपचारिक जामा पहनाने का कभी भी प्रयास नहीं किया। यदि हम अंग्रेजी शब्दों का सहारा लें तो उन्होंने अहिंसा के माध्यम से सत्य तक पहुंच (अप्रोच) की। अहिंसा साधन बनी, सत्य साध्य। पर साधन तो और भी थे, साध्य अवश्य अपरिवर्तित था। ऐसी स्थिति में अहिंसा एक अप्रोच थी, अपने आप में कोई तकनीक नहीं थी। गांधी हर क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग करना चाहते थे—परिवार में, समाज में, राष्ट्र में, विश्व में। अहिंसा का क्रिया क्षेत्र व्यापक है पर आत्मबल, कष्ट सहन, प्रतिरोध आदि का क्षेत्र भी तो उतना ही व्यापक है। गांधी ने अहिंसा को आधार बनाया पर फिर भी सत्य तक पहुंचने का यह उपकरण ही रहा। अहिंसा से उन्होंने राजनीति को नैतिक स्वरूप देने का प्रयास किया। "पॉलिटिक्स" को "मोरेलाइज" किया।

गांधी ने अहिंसा के लिए जिन आवश्यक शर्तों की सीमा रखी थी उन्हें आज के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा।

---

[1] Selection from Gandhi, 154

अहिंसक आन्दोलन उस जन-बल पर निर्भर रहता है जो नैतिक आधार पर पूर्ण सजग एवं संगठित हो। उसमें कष्ट सहन करने की अपरिमित क्षमता हो—वह शक्ति के आगे मूक समर्पण करना नहीं जानता हो—किसी भी परिस्थिति में उत्तेजित न होता हो, किसी से द्वेष की भावना न रखता हो। गांधी जब तक जीवित रहे प्रथम तो उनके व्यक्तित्व का आकर्षण ही जनता को तैयार करने में समर्थ था फिर आजादी प्राप्त करने का ध्येय जनता के विभिन्न वर्गों को एक सूत्र में बांध कर काम करने को प्रोत्साहित करता था। ये दो बातें थीं जिनके आधार पर अहिंसा का आन्दोलन चला। गांधी के स्तर का कोई दूसरा नेता जो शान्तिमय संघर्ष का समर्थक हो, राजनीतिक फलक पर उस समय नहीं था और सुभाष आदि जो खड़े हुए उन्हें गांधी के व्यक्तित्व और उससे जनित व्यामोह ने दबा दिया। प्रत्येक युग में कोई न कोई ऐसा व्यक्तित्व खड़ा होता है जिसके व्यक्तित्व का व्यामोह पूरी जनता को 'हिप्नोटाइज' कर देता है और उसके चले जाने पर जो रिक्तता आती है उसमें जनता किंकर्तव्यविमूढ़ होकर मार्ग से भटक जाती है। कुछ ऐसी ही स्थिति आज है। हमें गांधी की अहिंसा एवं अन्य बातों (सविनय अवज्ञा) असहयोग, धरना, हड़ताल, आदि पर इसी रूप में विचार करना होगा।

गांधी के अहिंसा के सिद्धान्त को मात्र काल्पनिक कह कर उसका उपहास करने से तो वह 'युटोपियन' नहीं बन जाएगा। उन्हें इस अहिंसा में, समस्याओं को सही दृष्टिकोण से देखने और उनकी गहराई नापने की क्षमता दिखाई दी

थी। यह तर्कसंगत बात लगती है कि जो व्यक्ति हिंसा से सत्ता तक पहुंचते हैं वे बिना प्रतिहिंसा के उससे पृथक नहीं होते अर्थात हिंसा हिंसा का ही मार्ग प्रशस्त करती है। इस युग में भी अनेकानेक ऐसे उदाहरण मिल जाएंगे जो उक्त तथ्य को सत्यापित करने में समर्थ हैं। पड़ोसी पाकिस्तान में मार्शल अयूब ने जिस हिंसा के युग का सूत्रपात किया यह अन्ततः उसी हिंसा से समाप्त हुआ और अपने पीछे कटुता, घृणा एवं द्वेष छोड़ गया। इण्डोनेशिया के सुकर्ण; घाना के एनक्रूमा एवं अल्जीरिया के बेनबेला इसी सन्दर्भ के अन्तर्गत आते हैं। अहिंसा से अर्जित सत्ता को जनबल का प्रबल समर्थन होता है अतः जनता के व्यापक हितों का प्रतिनिधित्व संभव हो पाता है। हिंसा के प्रयोग का सीधा अर्थ विरोधियों का दमन अभिव्यक्ति पर रोक एवं स्वतन्त्र चिन्तन का अवरोध है। कोई भी प्रजातन्त्र हिंसा के बल पर सफल नहीं हो सकता क्योंकि खून बहाकर मानव-मूल्यों की रक्षा नहीं हो पाती। हिंसा पर आधारित राज्य-सत्ता प्रतिहिंसा के भय से लगातार दमन-चक्र चलाती है एवं समस्त शक्तियां जनता से छिन कर कुछ लोगों की तानाशाही में निहित हो जाती है।

गांधी की अहिंसा राष्ट्रीय स्तर पर नैतिक सिद्धान्तों का एक अद्भुत प्रयोग थी। गांधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन एवं अहिंसक क्रान्ति से देश भर में प्रबल जनमत तैयार किया था। राष्ट्र का मानस स्वतन्त्रता के लिए अभिमुख हो उठा। गांधी सारे देश के जनबल का पुंज एवं प्रतीक बन गये। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के सफल समाधान

में भी अहिंसा ने जो योगदान किया वह नगण्य अथव तुच्छ नहीं कहा जा सकता। आज समस्याओं के समाधा युद्ध-क्षेत्रों में होने के स्थान पर गोलमेज सम्मेलनों में ह सकते हैं—समझौतों और पंचनिर्णयों ने विनाश एवं नर संहार से अधिक सफलता पाई है। तटस्थ देशों की संख्य बढ़ रही है जो किसी भी सैनिक-गठबंधन से लिप्त होक युद्ध के नैतिक भागीदार बनना नहीं चाहते। अहिंसा ने गांधीजी की तरह, संसार के साधारण लोगों में अपनी जड़ें जमाने का प्रयास किया है।

गांधी के सिद्धान्तों की गूंज भौतिकवादी चकाचौंध से घिरे अमेरिका एवं ब्रिटेन; रंगभेद से ग्रस्त दक्षिणी अफ्रीका, तथा जूझने वाले लड़ाकू पठानों के अफगानिस्तान तक सभी जगह प्रतिध्वनित हुई। स्वर्गीय मार्टिन लूथर किंग ने गांधी के सिद्धान्तों का अमेरिका में परीक्षण किया और नए परिवेश और भूमिका में उसका आकलन करने का प्रयास किया। किंग ने संघर्षों का आधार अहिंसा को बनाते हुए कहा, "हिंसा अव्यावहारिक है, क्योंकि 'आंख के लिए आंख' लेने का दर्शन प्रत्येक को अंधा बना देता है। यह विधि दोषपूर्ण एवं अनैतिक है। यह अनैतिक इसलिए है क्योंकि यह पतनोन्मुखी है तथा प्रत्येक का विनाश करती है। यह दोषपूर्ण इसलिए है क्योंकि हृदय-परिवर्तन के स्थान पर यह विरोधियों का दमन करती है। मुझे विश्वास है कि अहिंसा एक शक्तिशाली शस्त्र है जिसका नीग्रो लोग स्वतन्त्रता एवं न्याय की प्राप्ति के निमित्त प्रयोग कर सकते हैं। यदि हम हिंसा के प्रयोग के लालच को नहीं

रोक सके तो आने वाली पीढ़ियों को एक दीर्घकालीन कटुता हाथ लगेगी।"[1] मार्टिन लूथर किंग नेभी यह आवश्यक माना था कि ऐसी अहिंसा के सफल प्रयोग के लिए उसी अनुशासन एवं शांति की आवश्यकता है जो गांधी ने प्रदर्शित की थी। इन दोनों चीजों से जुड़ी हुई अहिंसा वह काम कर सकती है जो न तो हिंसा और न ही नैतिक प्रवचनों से संभव हो पाता है। दक्षिणी अफ्रीका मे रंगभेद से ग्रस्त काले लोगों के लिए स्वतन्त्रता के अधिकारों के प्रबल समर्थक एव नोबेल प्राइज विजेता श्री लुयुली ने गांधीवादी विचारों का सदैव समर्थन किया। उनके मतानुसार, "मैंने अहिंसा एव सविनय अवज्ञा का स्वतन्त्रता-प्राप्ति के सघर्ष में प्रयोग किया है क्योंकि मुझे विश्वास है कि यही मानवोचित एव न्यायोचित मार्ग है जिसके द्वारा संवैधानिक उपचारों से रहित लोगों को अपनी आकांक्षाओं की ओर बढने का अवसर मिलता है।"[2] गांधीवादी विचारों का जिन-जिन लोगों ने समर्पण एव श्रद्धा से जिस-जिस देश मे प्रचार किया वे उन-उन देशों के 'महात्मा गांधी' बन गए। इस शृंखला में हम अमेरिकन गांधी मार्टिन लूथर किंग एव दक्षिणी अफ्रीकन गांधी श्री लुयुली के अतिरिक्त सीमांत गांधी खान अब्दुल गफ्फार खान एवं सिसिली के गांधी श्री डानिलो डोलसी के नाम ले सकते है। दुनिया मे शांति और अहिंसा की फसलों मे

---

[1] गांधी स्मृति भाषणमाला १९६३

[2] अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस द्वारा सन् १९५२ में प्रचारित श्री लुयुली के भाषण का एक अंश।

जाने कब और कहां और गांधी उग आएं यह बात इतिहास के देखने की है।

अहिंसा सिद्धांततः ठीक है इसे तो शायद कोई भी सभ्य देश अस्वीकार नहीं करेगा। मार्क्स और लेनिन की विचारधारा पर चलने वाले सोवियत रूस ने भी अहिंसा को पूर्णतया नकार दिया हो—ऐसी बात नहीं है। स्वयं लेनिन ने कहा था, "हमारे आदर्श मे जनता पर हिंसा का कोई स्थान नहीं है। समाजवाद राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी हिंसा के विरुद्ध है। इसके बारे में कोई सन्देह नहीं है। लेकिन समाजवाद साधारण जनता पर तो हिंसा के विरुद्ध है ही।"[1] लेनिन ने सामान्यतः हिंसा का विरोध किया था पर गांधी ने तो अहिंसा को एकमात्र पूर्ण सिद्धांत के रूप मे स्वीकार किया और उसे सम्भवतः ऐसी स्थिति दे दी, जिसकी बिना परिस्थितियों एवं परिवर्तनशील दशाओं का ध्यान किए हुए हर हालत में पूजा ही करनी चाहिए। यह स्थिति विचार-अतिरेक की थी और पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी इसे 'इक्स्ट्रीम' की स्थिति माना।

आज के परिप्रेक्ष्य मे जब हमें गांधीवादी "पूर्णअहिंसा, भौतिकवादी 'सर्वहारा की तानाशाही' एवं पूंजीवादी" विचारधाराओं का सही मूल्यांकन करना है तो फिर अन्ध-श्रद्धा छोड़कर वस्तुस्थिति का सहारा लेना होगा। जो लोग भारतीय स्वतंत्रता को मात्र गांधीवादी अहिंसा की तकनीक

---

[1] प्रो० सिटमैन 'सोवियटस्टेट [illegible]' में दिए गए . . में उद्धृत।

की उपज मानते हैं – वे कहाँ तक ठीक हैं—इसका लेखा-जोखा लेना होगा। वर्ग-सामंजस्य एवं धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्रों में अहिंसा को सफल सिद्ध करने वालों की दलीलों पर विचार करना होगा। अच्छा होगा कि हम १५ अगस्त १९४७ एवं २६ जनवरी १९४८ को प्रकट किए गए गांधीजी के विचारों से ही इस क्रम को शुरू करें।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के दिन जब सब लोग आनंद विभोर हो रहे थे गांधीजी ने कहा, "मेरा हृदय सूख चुका है और आज स्वतन्त्रता और विभाजन के दिन मुझे किसी से कुछ नहीं कहना है। दूसरों को आनंद मनाने दो, मुझे मेरे आँसू बहाने के लिए अकेला छोड़ दो।" २६ जनवरी १९४८ को अपनी मृत्यु के चार दिन पूर्व ही उन्होंने कहा, "आज स्वराज्य दिवस है। इस दिवस को उस समय मनाना जब तक कि हम स्वराज्य के लिए संघर्ष कर रहे थे जिसे हमने देखा नहीं था और न स्पर्श किया था, उचित था। अब हमने इसका स्पर्श कर लिया है और हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हमारा भ्रम टूट गया है। यदि आपका नहीं तो कम से कम मेरा तो टूट ही गया है।"[1]

स्वतंत्रता प्राप्ति से गांधी ने जिस लक्ष्य को साधना चाहा था उसे अपनी ही आंखों के सामने ध्वस्त होता देख कर उनका मोह भंग हो गया। उन्हें अपनी अहिंसा की

---

[1] डी. जी. तेंदुलकर : महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी की जीवनी खण्ड ८, पृष्ठ ३३८

नीति में कोई बहुत बड़ा दोष दिखाई दिया । उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था कि "अहिंसा पालन करने की मेरी विधि में कोई बहुत बड़ा दोष है । ब्रिटिश शासन के विरुद्ध ३० वर्ष तक चलने वाले सघर्ष में अहिंसा का वास्तविक अर्थ कभी भी नही समझा गया ।"

प्रश्न उठता है कि गांधी के जीवनकाल में, उनके सान्निध्य में भी जब यह 'तकनीक' असफल रही तो फिर अब विपरीत परिस्थितियों में यह कैसे कारगर सिद्ध हो सकती है ? लोग मूलत: शांत एवं अहिंसक हैं जैसे समुद्र मूलत: गंभीर है पर समुद्र में तूफान और समाज में उफान आना स्वाभाविक है । यह सच है कि गांधीजी के विचारों का यदि सभी देश पालन करने लगें तो उनकी सिद्धि मे शंका नही हो सकती । पर इस बात के साथ तो "यदि" जोड़ कर सोचा गया है । वस्तुस्थिति क्या है ?

राष्ट्रीय जीवन में जहां वर्ग-सघर्ष, साम्प्रदायिक तनाव एवं राजनीतिक द्वन्द्व हैं वहां अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सीमा-संघर्ष, शक्ति संचय, पारस्परिक घृणा एवं कठतोड़ प्रतियोगिताएं हैं । गांधीजी ने अहिंसा द्वारा जिस राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करना चाहा था, उसमें उनको सफलता नही मिली । उनके आमरण अनशन के अस्त्र को लोगों ने संकीर्ण राजनीतिक मामलों की लब्धियों के लिए काम में लेना प्रारंभ कर दिया और प्रचार प्रसार का सस्ता साधन बना लिया । साम्प्रदायिक सद्भाव की भूमिका में अपने प्रयत्नों के बावजूद वे असफल रहे । पाकिस्तान का निर्माण इसका ज्वलंत उदाहरण है । अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी जब विचार करें तो

अहिंसा द्वारा पूर्ण सिद्धि न तो सीमान्त गांधी को पख्तूनिस्तान के मामले में मिली और न मार्टिन लूथर किंग को शहीदाना बलिदान करके भी नीग्रो एव गोरे लोगों के बीच समानता के आधार पर सम्मानपूर्ण सहअस्तित्व में मिली। कोरिया, हिन्दचीन, वियतनाम एव अन्य स्थानों मे सयुक्त-राष्ट्र संघ के प्रयत्नों मे विशेष सफलता न मिलना भी इसी शृखला का अग है। स्वय भारत को पिछले दशक में तीन बार सशस्त्र आक्रमणों का सामना करना पड़ा तथा उसके सामने एक तरफ सीमा रक्षा, स्वतन्त्रता व मानव मूल्यों के संरक्षण की समस्या थी तो दूसरी ओर अहिंसा की परम्परा का निर्वाह करने की बात थी। हमने हिंसा का प्रत्युत्तर हिंसा से दिया और वह हर प्रकार से उत्तम था। यहां हम गांधीजी के साथ अन्याय करेंगे यदि ऐसा सोचें कि महात्मा गाधी देश-रक्षा के निमित्त भी हिंसा का समर्थन नही करते थे। सन् १९४२ मे 'भारत छोडो' आन्दोलन के समय हिंसा की सभावना से वे विचलित नही हुए। उन्होंने श्री जयप्रकाश नारायण एव सुभाष बोस के कार्यों की सराहना की तथा हिंसा की प्रवृत्तियों में लगे हुए क्रांतिकारियों की निंदा करने से इन्कार कर दिया। साम्प्रदायिक दगों से भड़की आग को बुझाने के लिए उन्होंने सेना व पुलिस के प्रयोग को मान्यता दी तथा काश्मीर पर पाकिस्तानी कबाइलियों के आक्रमण के समय भारतीय वायु-सेना को भेजने के लिए वे तैयार हो गए। परिस्थितियों ने उन्हें ऐसा करने की स्थिति मे ला दिया था। भारत जब तक आजाद न था, अंग्रेज भारतीय सीमाओ की रक्षा के लिए उत्तरदायी थे तथा सशक्त राष्ट्र होने के कारण इग्लैंड मे युद्ध शुरु करना दूसरे राष्ट्रों

के लिए संभव न था। स्वतंत्र भारत के सामने अपनी प्रभुसत्ता एवं सार्वभौमिकता का प्रश्न था और उसे अपनी ही शक्ति से इसकी रक्षा करनी थी। अतएव हमने अहिंसा से अलविदा ली और यह सर्वथा उचित थी। इस प्रसंग में हम गांधीजी के इन विचारों से भी सबक प्राप्त कर सकते हैं 'कोई भी सरकार पूर्णतया अहिंसक बनने में सक्षम नहीं हो सकती क्योंकि यह सब लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। मैं आज ऐसे स्वर्ण युग की कल्पना नहीं करता पर मैं स्थाई अहिंसक समाज की संभावना में अवश्य विश्वास करता हूं। मैं इसके लिए काम कर रहा हूं।"[1]

गांधी ने एक आदर्श समाज के लिए काम किया था तथा सिद्धान्ततः उनसे मतभेद होने का प्रश्न ही नहीं उठता पर आज के युग में जब शस्त्रों के निर्माण में प्रतिस्पर्धा हो, पराजय का खतरा मोल लेकर ही फौजी खर्च घटाया जा सकता है।

अहिंसावादी परम्परा ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पंद्रह वर्षों तक भी हमें वास्तविकता को स्वीकार करने में असमर्थ रखा। युग की वास्तविकता थी कि रक्षा-व्यवस्था मजबूत की जाय, फौजी खर्च बढ़ाया जावे, आधुनिक शस्त्रों से सेना को सुसज्जित किया जावे। चीनी आक्रमण के समय सारे राष्ट्र की नींद टूटी और अहिंसा का व्यामोह समाप्त हुआ। विश्व में उपहास के पात्र बन कर भी यदि हम आगे के लिए चेत जाएं तो ठीक ही होगा और १९६५ के संघर्ष ने इसे

---

[1] श्री रामसागर मिश्र—गांधियन पालीटिकल थॉट से उद्धृत

सिद्ध कर दिया है कि हम सजग हैं।

गांधी को अपने सिद्धान्तों में निष्ठा थी, उनकी सफलता में विश्वास भी था पर परिस्थितियों की करवट से भी वे परिचित थे। उन्होंने कहा था, "जब तक करोड़ों भूखों और धनवानों के बीच चौड़ी खाई विद्यमान है, अहिंसक पद्धति की सरकार स्पष्टतया असभव है। आजाद भारत में नई दिल्ली के राजमहलो और गरीब मजदूरों की झोंपड़ियों का अन्तर एक दिन मे नही मिट सकता उस आजाद भारत में जहां गरीबो को वही शक्ति प्राप्त होगी जो धनवानों को मिलेगी। एक न एक दिन एक हिसक एव खूनी क्रांति होना निश्चित है यदि सपत्ति द्वारा प्राप्त शक्ति एव धन का बटवारा सार्वजनिक हित मे नही किया गया।"[1]

इसी शृखला में हम गांधीजी के सन् १६४७ में प्रकट किए गए उन विचारों को भी उद्धृत कर सकते हैं जो अनिच्छा से लादे हुए युद्ध की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। गांधी के जीवन-काल में भारत मे एक तरफ हिन्दू मुसस्लमानों के बीच खून-खराबी हो रही थी, दूसरी ओर पाकिस्तान से शरणार्थियो का आवागमन जारी था। गांधी ने उस समय संभवतः विवश होकर कहा, "दोनों राज्यों के लिए ठीक-ठीक समभौता करने का आम रास्ता यह है कि दोनों राज्य साफ दिल से अपना पूरा पूरा दोष स्वीकार करें और समझौता करलें। अगर दोनों में कोई

---

[1] ब्रेव न्यू वॉयस इन इण्डियन पब्लिक लाइफ (प्रो हीरेन मुखर्जी के लेख मे दिए गए उद्धरण से उद्धृत)

समझौता न हो सके तो सामान्य तरीके से पंच फैसले का सहारा लें। इससे दूसरा और जंगली रास्ता लड़ाई है……। लेकिन आपसी समझौते या पंच फैसले के अभाव में लड़ाई के सिवा चारा नहीं रह जायगा।"[1]

साधारण धरातल पर तो यही लगता है कि अहिंसा उसी समय कारगर हो सकती है जबकि विरोधी भी इस विचार को अपनाने में उत्साह दिखाएं। इसको हम यों भी रख सकते हैं कि अहिंसा इतिहास के किसी भी काल में उन विशेष परिस्थितियों में सफल हो सकती है जब जन-मानस समग्र रूप से देशकालगत स्थितियों में विशेष प्रकार से सोचता हो या यों कहें कि मानसिक जलवायु ही इसके पक्ष में बन गया हो।

राष्ट्रीय जीवन में अहिंसा का सिद्धान्त ठीक है तथा साम्प्रदायिक सहिष्णुता के लिए यही मात्र विकल्प है। भारत में आजादी के बाद जब भी हिंसात्मक प्रवृतियां उभरीं, साधारण जनता ने उससे असहयोग किया और इस प्रकार साम्प्रदायिक पागलपन को समय से पहले ही बेमौत मरना पड़ा। अहमदाबाद के दंगों के पीछे भी धर्मान्ध लोगों और इतर स्वार्थ वाले असामाजिक लोगों का हाथ था। पर सामान्य जनता फिर भी हिंसा में लिप्त नहीं हुई। हमे इस जलवायु को स्थायित्व देना है ताकि अहिंसक सामाजिक क्रांति हो सके। अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिए भी अहिंसा अर्थात् सैनिक गुटों से अलगाव अर्थात तटस्थता की नीति आवश्यक है। इतिहास के बिखरे हुए विरोधी उदाहरणों से

---

[1] दिल्ली डायरी, पृष्ठ २०

तो यह नीति असफल नहीं हो जाती। नीति का नैतिक धरातल ठोस है पर अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में अहिंसा का एकतरफा पालन करना सभव नही है। युद्ध के उन्माद मे यदि कोई राष्ट्र किसी भी अन्य राष्ट्र की सीमाओं का अतिक्रमण करता है तो अहिंसा सभव नही है क्योंकि वह आक्रमण उस राष्ट्र के मानस, जन-बल एव पूरी संस्कृति को चुनौती देता है और उसे स्वीकार करना ही नीति-सगत बात है। आज के परिप्रेक्ष्य मे गांधीजी द्वारा समर्थित अहिंसा की नीति उस समय तक सफल है जब तक कि हिंसा परास्त करने के भाव से सिर पर न चढ़ आवे। कम से कम यह नीति हमें आक्रामक तो नही बनाती और यही हमारी सबसे बडी उपलब्धि है।

गांधी की प्रजातंत्र एवं समाजवाद की कल्पना के मूल मे मानव की गरिमा एवं व्यक्ति की इयत्ता थी। संगठन को व्यक्तियों का समूह मानते हुए भी वे व्यक्ति को पूर्ण रूप में सगठन में लुप्त अथवा विलीन होने की बात नही कहते थे। प्रत्येक व्यक्ति का अपना 'व्यक्तित्व' होता है; उसे समाज के हित में व्यक्तित्व का सयोजन अवश्य करना होता है पर उसमें विलीन होकर अपना अस्तित्व खोने की कोई आवश्यकता नही है। यांत्रिक युग ने व्यक्तियों को मशीन के पुर्जो की तरह नियत स्थिति और नियत कार्य देने का प्रयत्न किया है। व्यक्तित्व के यंत्रीकरण में इच्छित विकास नही हो पाता। गांधीजी ने भारत के प्रति असीम प्रेम को मानवता में निष्ठा और व्यक्ति के प्रति सम्मान के आधार पर अभिव्यक्त किया। वे प्रजातांत्रिक मानवतावादी दृष्टिकोण रखते थे तथा अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव का व्यक्ति

स्वातन्त्र्य एव प्रत्येक मानव के स्वाभाविक विकास के सहायक तत्व के रूप में ही समर्थन करते थे।

समाजवाद की गांधीवादी धारणा के पीछे मानव की समानता और उन्नति के साधनों की समान प्राप्ति की बात है। उन्होंने समाजवाद में इसलिए आस्था दिखाई क्योंकि 'समाजवाद एक सुन्दर शब्द है और जहां तक मुझे मालूम है समाजवाद में समाज के सब सदस्य बराबर होते हैं—न कोई नीचा होता है न कोई ऊंचा……। उसमें राजा और प्रजा, अमीर और गरीब, मालिक और मजदूर सब एक स्तर के होते हैं। धर्म की भाषा में कहें तो समाजवाद में द्वैत या भेदभाव नहीं होता।"[1] गांधी ने 'समाजवाद' के प्रचलित अर्थ से अपने को नहीं जोड़ा क्योंकि "राष्ट्रीय समाजवाद", 'प्रजातांत्रिक समाजवादी" "समाजवादी पद्धति का समाज" आदि शब्द भ्रांतिमूलक हैं *तथा अपने आप में 'समाजवादी' होने का भाव रखते हुए भी* एक दूसरे से भिन्न हैं। गांधीवादी 'समाजवाद' में 'सर्वोदय' की कल्पना है। उसमें गूंगों, बहरों और अंधों की उन्नति भी सम्मिलित है। वे समाजवाद की परिधि में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की आजादी चाहते हैं—व्यक्ति के समाज में पूर्ण विलय की कल्पना नहीं करते हैं। उन्होंने स्वराज प्राप्ति के पीछे हिंसा का सम्बल इसीलिए स्वीकार नहीं किया क्योंकि, "सच्ची लोकसत्ता अथवा जनता का स्वराज कभी भी असत्य या हिंसक साधनों से नहीं आ सकता। कारण

---

[1] हरिजन १३-७-१९४७

स्पष्ट और सीधा है। यदि असत्यमय अथवा हिंसा के साधनों का प्रयोग किया गया तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि सारा विरोध या तो विरोधियों को दबाकर या उनका नाश करके खत्म कर दिया जाएगा। ऐसी स्थिति में वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकती। वैयक्तिक स्वतन्त्रता को प्रकट होने का पूरा अवकाश केवल विशुद्ध अहिंसा पर आधारित शासन में ही मिल सकता है।"[1] गांधी के लिए व्यक्ति का महत्व एक आवश्यकता है, विकल्प नहीं। "अगर व्यक्ति का महत्व न रहे तो समाज में भी क्या महत्व रह जाएगा? वैयक्तिक स्वतन्त्रता ही मनुष्य को समाज की सेवा के लिए स्वेच्छापूर्वक अपना पूरा अर्पण करने की प्रेरणा दे सकती है। यदि उससे यह स्वतंत्रता छीन ली जाय तो वह जड़-यंत्र जैसा हो जाता है और समाज की बरबादी होती है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता को अस्वीकार करके कोई सभ्य समाज नहीं बनाया जा सकता।[2]

स्पष्ट है कि गांधीजी को वही शासन-व्यवस्था स्वीकार हो सकती थी जो व्यक्ति स्वातंत्र्य पर आधारित हो। उनकी कल्पना का व्यक्ति अपने अधिकारों से पूर्व कर्तव्यों के प्रति सजग है। 'जो व्यक्ति अपने कर्तव्य का उचित पालन करता है उसे अधिकार अपने आप मिल जाते हैं। सच तो यह है कि एकमात्र अपने कर्तव्य के पालन का अधिकार ही ऐसा अधिकार है, जिसके लिए ही मनुष्य को

---

[1] हरिजन २७-५-१९३९

[2] हरिजन १-२-१९४२

जीना चाहिए और मरना चाहिए।"[1] आज सम्पूर्ण विश्व के परिप्रेक्ष्य में देखें तो विश्व के लगभग ३ अरब मानव प्रकृति की सर्वोत्तम सपत्ति हैं—उन्हें Liability समझना ठीक नहीं है। गाधीवाद ही सभवतः ऐसी विधि में विश्वास करता है जिससे व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतत्रता प्राप्त हो सकती है। साम्यवाद का जो स्वरूप रूस और चीन में बना है वहां सर्वहारा की तानाशाही के बाद भी व्यक्ति को उस सीमा तक स्वतत्रता नहीं है जितनी भारतीय सविधान के अंतर्गत मानवाधिकारों द्वारा सम्मत है। समाजवाद समाज के निमित्त व्यक्ति के हितों के समर्पण में विश्वास करता है। गांधीवाद में दवाव अथवा भय से सामाजिक व्यवस्था बनाने का कहीं पर भी प्रावधान नहीं है। हृदय-परिवर्तन ही उसकी एकमात्र कूटनीति है—अहिंसा ही उसका एकमात्र आधार है। गांधीजी व्यक्ति विशेष में निहित क्षमता का अनादर नहीं करते क्योंकि प्रकृति ने समान रूप से जन्म देकर भी व्यक्तियों में भिन्न भिन्न अर्हताएं; कुशलताएं एवं क्षमताएं दी हैं। प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि क्षमताएं एक समान नहीं हो पातीं। निश्चित है कि विशिष्ट अर्हताओं वाले लोग सामान्य लोगों से मानसिक स्तर पर अधिक अच्छा काम करेंगे और तदनुसार उनकी आय में भी अन्तर होगा। किसी 'वाद' के नाम पर 'बुद्धि' को कुंठित करने अथवा क्षमता के प्रदर्शन को रोकने अथवा आवश्यकतानुसार सम्पत्ति अर्जन करने से रोकना वैयक्तिक

---

[1] हरिजन २७-५-३९

स्वतंत्रता में बाधक है अतः त्याज्य है। गांधी की समग्र विचारधारा मे विश्वास करने वाला उनकी कल्पना का 'व्यक्ति' आवश्यकता से अधिक अर्जन नही करेगा क्योंकि उसे 'अपरिग्रह' के सिद्धान्त का भी परिपालन करना होता है। ऐसे व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि राज्य की तरफ से कम से कम अकुश हों। कहने को तो लेनिन ने भी ऐसी कल्पना की थी कि "समाजवाद के लिए प्रयत्न करते हुए हमें विश्वास हो गया है कि यह साम्यवाद के रूप मे विकसित होगा और इसके साथ ही साथ शक्ति की सारी आवश्यकता लुप्त हो जाएगी—न तो एक व्यक्ति मे और न ही जनसख्या के एक भाग एव दूसरे भाग मे दासता का भाव होगा क्योंकि लोग बिना शक्ति अथवा दासता के प्रारंभिक शर्तों के पालन करने में अभ्यस्त हो जाएगे।"[1] पर पिछले ५० वर्षों का अनुभव यह बताता है कि इस स्थिति तक राज्य के बढ़ने के स्थान पर रूस अथवा चीन में 'तानाशाही' की जकड़ और जोर की हो रही है। सर्वहारा की तानाशाही के स्थान पर वहां 'समूह' की तानाशाही चल रही है—विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अभाव है। गांधीवाद के अनुसार राज्य को सम्पूर्ण शक्तियों का स्रोत नही माना गया है। उसकी शक्तियां तो जन-बल पर निर्भर है अतः सच्चा जनतंत्र जनबल की उपेक्षा नही कर सकता। उनके कथनानुसार, "मैं राज्य-सत्ता की वृद्धि को बहुत ही भय की दृष्टि से देखता हू क्योंकि जाहिरा तौर पर तो वह कम से कम शोषण करके लाभ पहुंचाती है परन्तु मनुष्य

---

[1] दी मॉडर्न रिव्यू १९३५, पृ० ४१२

के व्यक्तित्व को नष्ट करके वह मानव-जाति को बड़ी से बड़ी हानि पहुंचाती है ।[1]

मनुष्य राज्य-सत्ता के अंकुश से नहीं, सामाजिक जीवन में सामंजस्य लाने के लिए स्वतः ही समाज के नियमों का पालन करता है । व्यक्ति स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व एक दूसरे के पूरक तत्व हैं । मनुष्य मूलतः एक सामाजिक प्राणी है । सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुसार अपने व्यक्तित्व को ढालना सीख कर ही वह वर्तमान स्थिति तक पहुंचा है । अबाध व्यक्तिवाद वन्य पशुओं का नियम है । हमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक संयम के बीच समन्वय करना सीखना है ।"[2]

आज के भारत में गाधी की उपरोक्त कल्पना पूर्णतया समय-सापेक्ष है । कुंठाओं से घिरे व्यक्ति को अभी अपने 'व्यक्तित्व' का पहिचानना शेष है तभी वह सामाजिक निर्माण में भागीदार बन सकता है । पूंजी और सत्ता की दोहरी मार से उसकी भावनाए विकलांग बनती जा रही हैं—उसकी क्षमताओं को पक्षाघात होने लगा है—उसकी अर्हताएं बध्या स्थिति में हैं । अनुत्पादक कार्यों में उसकी रुचि बढ़ती जा रही है । उचित सामाजिक मान्यता के अभाव में आज का युवक तोड़-फोड़, विप्लव और विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है । उसका एकमात्र विकल्प उसके रास्ते के रोड़े हटाने में है—उसे 'व्यक्ति' के रूप में मान्यता देने में है । जब वह 'उपकरण' से 'व्यक्ति' बनेगा तो स्वतः

---

[1] हरिजन सेवक २७-५-३६

[2] हरिजन सेवक २७-५-३६

ही राष्ट्रीय जीवन के निर्माण का भागीदार बन जाएगा ।

वैयक्तिक स्वतत्रता के नाम पर महात्मा गाधी के कुछ विचार आज की स्थिति से मेल नही खाते । वे समय के साथ-साथ घिसने से जीर्ण हो गए है तथा उन्हे गाधी की विचार-धारा के नाम पर चलाना उचित प्रतीत नही होता । गांधीजी जमीदारी-प्रथा के उन्मूलन अथवा रियासतों के एकीकरण के इसलिए विरुद्ध थे क्योंकि इनमें विवश करने का जो भाव है उसके मूल मे हिसा है और हिसा से हृदय-परिवर्तन नही हो पाता । मत परम्परा के व्यक्ति होने से गांधीजी हृदय-परिवर्तन मे शुद्ध मन से विश्वास करते थे । पूंजी अथवा सत्ता अथवा दोनो का आकर्षण ऐसा है जो जल्दी नही छोड़ा जा सकता तथा हिंसा रहित स्थिति मे इतिहास का चक्र सफलता की तरफ कभी आगे कभी पीछे चलता रहता है पर मंजिल को नही पा सकता । गांधी के अनुसार, "जमीदारो से नाराज होना बेकार है । वे भी हमारी दया के पात्र हैं......जमीदारों का हृदय-परिवर्तन बेजमीनो के हृदय-परिवर्तन से आसान है क्योंकि जमीदारों के लिए केवल आर्थिक हितों का त्याग करने का प्रश्न है जबकि बेजमीनो के लिए सम्बन्ध बदलने की बात है ।"[1] गांधीजी जमीदारों को जमीन का उसी प्रकार ट्रस्टी बनाना चाहते थे जैसे पूंजीपतियों को सम्पत्ति का ट्रस्टी बनाने की उनकी पेशकश थी । राजा महाराजाओं

---

[1] Indian Parliament (पत्र) मे १९४८ मे प्रकाशित विचार: सपादक के॰श्री निवासन (K. Shriniwasan)

के राज्यों को छीनने के भी वे विरुद्ध थे और इस संभावना को टालने के लिए कांग्रेस का कार्य-क्षेत्र "ब्रिटिश भारत" तक ही सीमित रखना चाहते थे। "समाजवादियों को चाहिए कि वे राजा-महाराजाओं को वैध शासक बनाने या प्रजा की इच्छाओं के अनुसार शासन चलाने वाले लोकनेता बनाने का प्रयत्न करें। उनके शासन के अन्त करने की मांग करने का अर्थ अफगानिस्तान में समाजवाद की स्थापना की मांग करने जैसा होगा।"[1]

पिछले २२ वर्षों के इतिहास से परिचित व्यक्ति जमींदारी उन्मूलन एवं रियासतों के एकीकरण की उपयोगिता समझता है। गांधीजी ने वैयक्तिक स्वतंत्रता, मानव की समानता एवं भेदभाव रहित स्थिति की जो कल्पना की थी, उपरोक्त विचार उनसे विरोधाभास प्रकट करते हैं। जमींदारी-प्रथा एवं राजाशाही मानव के नैसर्गिक अधिकारों में बाधक हैं अतएव समय के साथ कदम नहीं मिला सकतीं। स्वतंत्र भारत ने जमींदारी उन्मूलन का जो कदम उठाया वह सार्वजनिक हित में एकमात्र सही कदम था। जमींदारों को मुआवजा देकर जमीन की मिल्कियत जोतने वाले के नाम करने का अंतर्निहित उद्देश्य भी 'सब जन हिताय सब जन सुखाय' की मूल धारणा पर आधारित था। तथाकथित जमींदार आज अपनी जमीन जोतकर सम्मानपूर्वक जीवन बिताने की स्थिति में हैं। आज का भारत राजाओं को सत्ताच्युत तो कर ही चुका है उन्हें विशेषाधि-

---

[1] वही पत्र (पृष्ठ ६१ का फुट-नोट)

कारो से वचित करने की ओर बढ रहा है । जनतत्र मे विशेषाधिकारों की स्थिति रखने का तात्पर्य दो प्रकार की नागरिकता का निर्माण करना है— जो इसकी मूल भावना के विरुद्ध है। उचित मुआवजा देकर प्रिवीपर्स की समाप्ति का निर्दिष्ट लक्ष्य पूरा होना ही चाहिए ताकि अधिकाधिक समानता की ओर बढा जा सके ।

आज के मानव के सामने एक तरफ सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण की समस्या है तो दूसरी ओर वैज्ञानिक युग के साथ तेजी से चलने की बात है । हृदय परिवर्तन के कारगर किन्तु धीरे उपाय से जब तक हम इच्छित सामाजिक व्यवस्था लाएगे तब तक दुनिया काफी आगे निकल चुकी होगी। यदि हम समाज-सुधार के कानून बनाएं तथा उनको पालन किए जाने जैसा सामाजिक वातावरण भी बना दें तो कार्य अधिक सरल हो सकता है। समाजवाद यदि हमे सर्वोदय की तरफ ले जाय तो वह सार्थक है ।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक संयम के सिद्धान्त हमारे अधिक नजदीक हैं अत: शीघ्र कारगर हो सकते हैं। वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा की तानाशाही के दोनों सिद्धान्त रूस एवं चीन के परीक्षणों के आधार पर हमारे जन-जीवन एवं संस्कृति से संगति नहीं बिठा पाते। वर्ग-संघर्ष तो भारत मे वैसा ही है जैसा इन देशों में था पर हिंसा के अतिरिक्त अन्य तरीकों से भी वर्ग-भेद को कम किया जा सकता है । गाधीजी साधनों की पवित्रता में विश्वास करते थे । साम्यवादियों की मान्यता है कि अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए बुरे से बुरा साधन भी क्यों न अपनाया जाय, यह

मान्य है, वर्जनीय नहीं। Ends justify the means के आधार पर ये कुकृत्यों को न्यायसंगत सिद्ध करते हैं—अतएव उनका समाजवाद, जो भारत को अमान्य है; हिंसात्मक समाजवाद ही है। जयप्रकाश नारायण के मतानुसार गांधीजी के सिद्धान्तों पर आधारित 'सर्वोदय' कार्यक्रम का उद्देश्य है जाति या वर्गविहीन अहिंसात्मक सहकारी समाज (Co-operative Society) की प्राप्ति करना जिसमें सब के लिए एक समान अवकाश रहेंगे......यदि भारतीय समाजवाद ने गांधीत्व की ओर ध्यान नहीं दिया तो उसे भारी हानि उठानी पड़ेगी।"[१]

गांधीजी के मानवाधिकार सम्बन्धी विचार राष्ट्रीय धरातल पर हमें प्रजातन्त्र की ओर अग्रसर करते हैं तथा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विश्व-बंधुत्व एवं विश्व-शांति की ओर ले जाते है। जनतन्त्र के नाम पर कुछ लोगों द्वारा शासन-सत्ता अपने हाथ में ले लेने की कल्पना उन्होंने नहीं की थी। उनकी जागरूक चिन्तन-शक्ति ने यह देख लिया था कि सत्ता प्राप्त होने के बाद उसका दुरुपयोग अवश्यंभावी हो जाएगा। सच्चे जनतन्त्र के लिए यह स्थिति अत्यन्त घातक होगी यदि लोकतन्त्र के नाम पर बिना प्रतिरोध के दमनकारी प्रवृत्तियों को सहन करने दिया जाएगा। ऐसी स्थिति में तो लोकन्तत्र के कलेवर में तानाशाही की ही स्थापना होगी। गांधी दमन एवं अन्याय के विरुद्ध थे अतः उनकी लोकतन्त्र की कल्पना में मूक समर्पण का भाव नहीं मिलता।

---

[१] अंग्रेजी दैनिक 'हितवाद' २-६-१६५१

"सच्चा स्वराज थोड़े लोगों द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नही बल्कि जब सत्ता का दुरुपयोग होता हो तब सब लोगों द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता प्राप्त करके हासिल किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में स्वराज जनता में इस बात का ज्ञान पैदा करके प्राप्त किया जा सकता है कि सत्ता पर कब्जा करने और उसका नियमन करने की क्षमता उसमें है।"[1] स्वराज मे सरकारी नियन्त्रण से मुक्त होने की भावना अतर्निहित है। यहां नियन्त्रण से तात्पर्य "हर छोटी बात के नियमन के लिए सरकार का मुंह ताकने" की प्रवृत्ति से है।

भारत जैसे विशाल देश में जहां अनेक संस्कृतियों का समावेश है, बहुमत द्वारा सत्ता के दुरुपयोग की उन्होंने कल्पना की थी। चूंकि बहुमत हिन्दुओं का है अत स्वराज को हिन्दू-राज्य के रूप से परिवर्तित करने के प्रयासों से भी वे भिन्न थे। उन्होंने इस सिद्धान्त को धरातल पर ही निरस्त कर दिया था। उनकी कल्पना में सभी धर्मावलम्बियों के लिए स्वराज में समान अवसर प्राप्त होने का भाव था। "कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भारतीय स्वराज तो ज्यादा संख्या वाले समाज का यानी हिन्दुओं का ही राज्य होगा। इस मान्यता से ज्यादा बड़ी कोई दूसरी गल्ती नही हो सकती……मैं उसे स्वराज मानने से इन्कार कर दूंगा और अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका विरोध करूंगा।"[2] अल्पमत के आधार पर किसी को अधिकारों से

---

[1] हिन्दी नवजीवन २६-१-१६२५

[2] यंग इण्डिया १६-४-१६३१

वंचित नहीं किया जा सकता। इससे तो 'सर्वोदय' का सारा सिद्धान्त ही ध्वस्त हो जाता है। उनकी कल्पना के प्रजातंत्र में, "अत्यन्त दुर्बल लोगों को वही अवसर प्राप्त हों(गे) जो कि अत्यन्त बलवानों को प्राप्त हैं।"[१] इससे स्पष्ट है कि लोकतन्त्र में हिंसा को कोई स्थान नहीं मिल सकता। हिंसा सदैव कमजोरों का दमन करने में प्रयुक्त होती है अतः लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की मूल भावना के विरुद्ध है। बहुमत और अल्पमत के लोगों पर स्वेच्छा से कोई अंकुश होना चाहिए ताकि राष्ट्र के जन-जीवन को निर्बाध गति से बढ़ाया जा सके। इसके लिए गांधीजी ने अनुशासन की कल्पना की थी, "जन्मजात लोकतन्त्रवादी जन्म से ही अनुशासन पालने वाला होता है। लोकतन्त्र की भावना कुदरती तौर पर उसमें विकसित होती है।"[२] अथवा "अनुशासनबद्ध और जागृत लोकतन्त्र संसार की सुन्दर से सुन्दर वस्तु है। पूर्वाग्रहों से जकड़ा, अज्ञान में फंसा हुआ और अंधविश्वासों का शिकार बना हुआ लोकतन्त्र अराजकता और अंधाधुंधी के दलदल में फंस जाएगा और खुद ही अपना नाश कर लेगा।"[३]

अनुशासन का विकास करके कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक बनाकर ही 'राज्य नियंत्रण' से मुक्त किया जा सकता है। ऐसे लोकतन्त्र में अल्पमत को यह अधिकार रहता है कि वह

---

[१] फौर पैसिफिस्ट ८६

[२] मोहन माला ११७

[३] मोहन माला ११८

बहुमत से भिन्न आचरण कर सके क्योंकि लोकतन्त्र में व्यक्ति के मत और कार्य की स्वतन्त्रता की सावधानी से रक्षा की जाती है। इस शासन व्यवस्था में लोग भेड़ों की तरह व्यवहार नहीं करते। एक औसत ग्रामीण को भी यह ज्ञात होता है कि अपने भाग्य-निर्माण में उसका अपना हाथ है—अपने चुने हुए प्रतिनिधियो की मार्फत वह अपना स्वयं का विधायक है। गांधीजी इसमे विश्वास नही करते थे कि शक्ति विधान-सभाओं से आती है। सत्य यह है कि शक्ति जनता में निहित है तथा कुछ समय के लिए चुने हुए प्रतिनिधियों को हस्तांतरित कर दी जाती है। सविनय अवज्ञा ही शक्ति का पुंज है। विधानसभाओं के कानूनों का कष्ट सहन करने की क्षमता वाले लोग प्रतिकार कर सकते हैं और इस प्रकार शासन को कानूनों के बारे में पुनर्विचार करने को बाध्य कर सकते हैं। उनके प्रतिकार से समस्त कार्य-पालिका एवं विधान मडलीय कार्य एकदम रोके जा सकते हैं। पुलिस और मिलिट्री की ताकत दृढ़व्रती लोगों को विचलित नहीं कर सकती। प्रजातन्त्र में विचार-साम्य होना अनिवार्य नही है पर "विचार भिन्नता का मतलब दुश्मनी नही होनी चाहिए……मैंने अभी तक दुनिया के कोई दो ऐसे व्यक्ति नही देखे हैं जिनमें पूर्णतया विचार-साम्य हो।"[१]

प्रजातन्त्र की उपरोक्त कल्पना का यदि वर्तमान स्थिति में मूल्यांकन करें तो चित्र अस्पष्ट और धुंधला ही

---

[१] दी माइण्ड ऑफ महात्मा गाधी, ३

उभरता है। गांधीजी कुछ व्यक्तियों द्वारा सत्ता-नियंत्रण के विरुद्ध थे पर वस्तुस्थिति यह है कि हर राज्य में अथवा केन्द्र में जिस-जिस दल अथवा संयुक्त दलों की सरकारें हैं वहां सत्ता के लिए भयंकर संघर्ष है। सत्ताधारी दल अथवा दलों में भी समूहवाद पनप रहा है तथा एक दूसरे समूह को नष्ट करने की चेष्टाओं में ही सत्ता का दुरुपयोग होता है। प्रजातंत्र का अर्थ सत्ता के संघर्ष और दुरुपयोग तक ही सीमित रह जाना एक अत्यन्त दुःखदायक स्थिति है। इतने अधिक विरोधी दल अस्तित्व में आ गए हैं कि जनसाधारण किंकर्तव्यविमूढ़ होता जा रहा है। अनुशासन एवं कर्तव्य-पालन, जो प्रजातन्त्र के व्यवस्थित संचालन के आवश्यक तत्व हैं, राष्ट्रीय हृदय पटल से हटते जा रहे हैं। यहां तक दल विशेष में भी आन्तरिक अनुशासन का अभाव है तथा नेतागण अपने मतभेदों को सार्वजनिक चर्चा का विषय बनाकर जनता को अनैतिकता की ओर ले जा रहे हैं। सत्ता के मय और विरोधी ताकतों के पारस्परिक द्वेष ने नैतिक साहस को शून्य की स्थिति में ला दिया है और यह स्थिति वस्तुतः भयावह है। प्रजातन्त्र में मतों का विभाजन सम्प्रदायों के आधार पर होता है; सरकारों के निर्माण में जाति-निष्ठा महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है, जनहित के निर्णय इस अथवा उस वर्ग की नाराजगी को ध्यान में रखकर रोक दिए जाते हैं। लोगों की धार्मिक भावनाओं को निजी हितों में उभारा जाता है। वस्तुस्थिति चाहे जिस रूप में उभरी हो पर गांधीजी के विचार यदि 'आदर्श' रूप में हमारे सामने रहें और हम उस ओर यथासंभव प्रयास करें, तो प्रजातन्त्र की मूल भावना के साथ न्याय संभव हो सकता

है। आज भी ऐसे लोग हैं जो नैतिकता को राजनीति पर अकुश रखने की शक्ति के रूप में उभारना चाहते हैं। पूरा राष्ट्रीय चरित्र चुक नहीं गया है। गांधी के प्रजातन्त्र सम्बन्धी विचार ही देश में सुदृढ़ एवं जनहित-सापेक्ष स्वराज की कल्पना को साकार रूप दे सकते हैं।

गांधीजी ने मानव की गरिमा को आधार-बिन्दु बना कर अपनी नीतियों का निर्धारण किया। जब 'केन्द्र' में 'मानव' हो तो उस वृत की परिधि छोटी नहीं रह सकती। भौगोलिक सीमाएं अथवा जाति, धर्म, लिंग इत्यादि बातें स्वत: ही बौनी पड़ जाती हैं। समग्र मानवता का मानचित्र उभर जाता है और एटलस की कृत्रिम रेखाएं लुप्त हो जाती हैं। गांधी संत परम्परा के मनीषी थे। उन्होंने भारत की समस्याओं में इसलिए रुचि दिखाई क्योंकि इस प्रकार उन्हें समग्र मानवता के हित सम्पादन का एक अवसर मिलता था तथा किसी न किसी क्षेत्र को प्रतीक-स्वरूप सारे भूमंडल की मानवता के प्रतिनिधि के रूप में लेना अनिवार्य था। भारत में शताब्दियों की दासता एवं दीनता से जर्जरित प्राणी सारे भूमंडल के गरीबों का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम थे अत: गांधीजी ने भारत की सेवा करते हुए समग्र मानवता की सच्ची सेवा की तथा उसमें सफलता भी प्राप्त की।

भारत में अनेकों समाज-सुधारक, धार्मिक-नेता, राजनीतिज्ञ, विद्वान आदि हुए पर उन्होंने विशिष्ट क्षेत्रों में कार्य किया और सीमित लेकिन पूर्ण उपलब्धियों से ही महा-

मता प्राप्त कर ली। गांधीजी का क्षेत्र बहुत बड़ा था—
क्षेत्र में सफलताओं और असफलताओं दोनों का प्राचु
संभव है। बड़े क्षेत्र में कार्य करने वाले का मूल्यांकन कठि
होता है अतः इतिहास महानता का चोगा पहनाने में अत्य
सतर्क रहता है। इन सब बातों के उपरान्त भी गांधी महा
थे क्योंकि उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों के बिखरे हुए कामों को कु
विशेष सिद्धान्तों तक ही समेटे रखा और विस्तार के भय
नहीं अपितु मर्यादा के सम्बल से काम किया।

गांधीजी के लिए राष्ट्र-प्रेम एवं मानव-प्रेम में कोई भे
नहीं था। उन्होंने कहा था, "मेरे लिए देश-भक्ति औ
मानव प्रेम में कोई अन्तर नहीं है। मैं देश प्रेमी हूं क्योंकि
मैं मानव प्रेमी हूं। मेरा देश-प्रेम वर्जनशील नहीं है।"
तथा, "मैं भारत का उत्थान इसलिए चाहता हूं कि सारी
दुनिया उससे लाभ उठा सके। मैं यह नहीं चाहता कि भारत
का उत्थान दूसरे देशों के नाश की नींव पर हो।"[2] इस
विचारधारा के मूल में "सर्वे भवन्तु सुखिनः" वाली विश्व-
बंधुत्व की भावना है—भारत के सारे ऋषि, मुनि, संत सूफी
पैगम्बर यह कहते आए हैं पर गांधीजी संभवतः प्रथम व्यक्ति
थे जिन्होंने राजनीति के धरातल पर प्रयोग करते हुए
विश्व-बन्धुत्व के स्वप्न संजोए। संकीर्ण विचारधाराओं में
जीते हुए जमाने को शास्त्रीय संदेश दिया। किसी भी राज-
नीतिज्ञ के लिए अपने देश का रक्षण ही, मात्र समस्या है—

---

१ यंग इण्डिया १६-२-२१
२ यंग इण्डिया १२-३-२५

छल, बल, भय आदि उपकरणों की दिशा इसी तरफ रहती है। उसे यह नहीं सोचना होता कि उसके प्रयासों का विश्व के अन्य क्षेत्रों के मानव-समाज पर क्या असर पड़ता है ? वह विश्व-मानवता को दोस्त और दुश्मन के शब्दों से आंकता है तथा दुश्मनों को परास्त करना ही अपना कर्तव्य समझता है। मानवों का एक समूह दूसरे समूह को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। दिमाग के धरातल पर जो लड़ाई नहीं जीती जाती वह खुले मैदानों में रक्त की अदला-बदली में लड़ी जाती है। जो भी सफल हो जाय, इतिहास उसके कूटनीति में पारंगत होने की पुष्टि कर देता है और युग-पुरुष का सम्बोधन उसके लिए सुरक्षित हो जाता है।

गांधीजी की कल्पना का देश-प्रेम उक्त भावना से जैसे लोहा लेता हुआ दिखाई देता है। वे मानवता के बंटवारे को स्वीकार करने के लिए कभी भी तैयार नहीं थे। "मेरा देश-प्रेम कोई बहिष्कार वाली वस्तु नहीं है और मैं उस देश-प्रेम को वर्ज्य मानता हू जो दूसरे राष्ट्रों को तकलीफ देकर या उनका शोषण करके अपने देश को ऊंचा उठाना चाहता है। देश-प्रेम की मेरी कल्पना यह है कि वह हमेशा, बिना किसी अपवाद के हर एक स्थिति में, मानव जाति के विशालतम हित के साथ सुसंगत होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो देश-प्रेम की कोई कीमत नहीं है।"[1]

गांधीजी के १९२५ में व्यक्त विचारों के अनुसार

---

[1] यंग इण्डिया ४-४-२९

"राष्ट्रवादी हुए बिना कोई अंतर्राष्ट्रवादी नहीं बन सकता।" अंतर्राष्ट्रवाद तभी संभव है जबकि राष्ट्रवाद सिद्ध हो चुके यानी जब विभिन्न देशों के निवासी अपना संगठन करने और हिलमिल कर एकतापूर्वक काम करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लें।[1] राष्ट्रीयता कोई बुराई नहीं है। उसके साथ जुड़ी हुई संकीर्णता एवं स्वार्थपरता ही उसके कलेवर को दूषित करती है। राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता के दो विरोधी विचारों का उन्होंने अपने जीवन में सार्थक समन्वय किया और दुश्मनी को 'व्यक्ति' स हटाकर 'उपकरण' पर केन्द्रित करने में सफलता प्राप्त की। कई बार ऊंची उड़ान करने वाला प्राणी अपने धरातल को ही भूल जाता है तथा दिशाभ्रम से अस्तित्व खो बैठता है। गांधीजी के लिए ये सब बातें कोरे आदर्श की नहीं थी वरन हकीकत थीं। उन्होंने अंतर्राष्ट्रवाद के समर्थन में अपने धरातल को नहीं छोड़ा, अपने उद्देश्य की उपेक्षा नहीं की, भारत की आजादी के लक्ष्य को दृष्टि से नहीं हटाया। वे शोषण-वृत्ति के विरुद्ध थे और राष्ट्रवाद अथवा अंतर्राष्ट्रवाद की भावनाओं के पीछे छिपे शोषण को अपनी 'क्ष' किरणों से देख लेते थे। उन्होंने कहा था कि, "हमारी राष्ट्रीयता दुनिया के दूसरे राष्ट्रों के लिए खतरा नहीं बन सकती क्योंकि जिस तरह हम किसी राष्ट्र को अपना शोषण नहीं करने देंगे उसी तरह हम दूसरे किसी राष्ट्र का शोषण नहीं करेंगे।"[2]

इन विचारों का अब राष्ट्रीय एवं विश्व परिप्रेक्ष्य में

---

[1] मेरा समाजवाद भा० १५

[2] मोहन माला ६२

मंथन करें तो प्रतीत होगा कि आज राष्ट्रीयता की जो अंधी दौड़ चल रही है वह विश्व-बंधुत्व को एक उपहास का विषय बना चुकी है। एक ही विचारधारा (साम्यवाद) के दो राष्ट्र अपनी सीमाओं के विषय में संकीर्ण राष्ट्रीयता से सोचते हैं तथा आपस में लडने को उतारु हो जाते हैं। यहां तक कि एक ही देश के दो राज्य अपनी सीमाओं के प्रश्न पर एक दूसरे से ऐसा व्यवहार करते हैं मानों किसी दूसरे देश से विग्रह चल रहा हो। एक ही राज्य में विभाजन द्वारा अन्य राज्य का मानचित्र बनाने वाले इसलिए हिंसा पर उतारू हो जाते हैं क्योंकि तथाकथित बड़ा राज्य उनके स्वप्नों के छोटे राज्य का शोषण करता है। सीमाएं ज्यों ज्यों अधिक राज्यों अथवा राष्ट्रों का अभ्युदय करनी हैं, उसी अनुपात मे सोचने की शक्ति को सीमित करती जाती हैं। नेतृत्व की दौड मे पीछे रहे कुण्ठित नेतागण नए राज्य का नारा दे देते हैं तथा परास्त मनोवृत्ति वाले एक नया सम्वल पाकर कुछ दिन और टिके रहने का अवसर पा जाते हैं। विश्व के विस्तृत आयामो मे अणु-परमाणु निर्माण, परीक्षण, अतमंहाद्वीपीय संहारक शस्त्रों की उत्पत्ति, भय का व्यापारीकरण– ये सब बातें रात दिन नए नए घटनाक्रमों को जन्म देती हैं। रूस का औसत आदमी अमेरिका के औसत आदमी के चाहे खिलाफ न हो पर राष्ट्रीय ढांचो मे दोनो तरफ से खिलाफत की बू आती रहती है।

गांधीजी ने भय-ग्रस्त राजनीति की नब्ज को पहचान लिया था और १९२५ तक वे सारी बातें कह दी थी जो १९४५ में संयुक्तराष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के रूप में सामने

आधार पर अपने आपको ऊंचे वर्ग का समझने वालों की मानसिक जटिलताओं से भले ही मेल न खाते हों पर सीधे-साधे लोगों के लिए पर्याप्त सबल एवं सार्थक होते थे। "साधन की बीज से और साध्य की वृक्ष से तुलना की जा सकती है। और साधन तथा साध्य में ठीक वही अलंघ्य सम्बन्ध है, जो बीज और वृक्ष में है।"[१] सफलता की सरल विधियों में विश्वास करने वाले अवसर उन सब चीजों को तर्क के स्तर पर सही सिद्ध करना चाहते हैं जो अन्ततोगत्वा आगे जाकर अधिक हानिप्रद एवं विनाशक प्रमाणित होती हैं। वे इतिहास की सिद्धियों को अल्पकालीन गतिविधियों के पैमानों से नापना चाहते है—वहीं मूलभूत त्रुटि आ जाती है और उसके आधार पर बना सारा कार्य आंशिक सिद्धियां बताता हुआ भी समय पाकर ध्वस्त हो जाता है। गांधीजी ऐसे महत्वाकांक्षियों में नहीं थे अतः शीघ्र-सिद्धिवादी उनको "स्लो, आउटडेटेड एव ओल्ड कहकर अपने आप को प्रगतिशील सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे पर गांधी के व्यक्तित्व के आगे उनका वश इसलिए नहीं चल पाता था क्योंकि जनता से जो प्रेम, श्रद्धा एवं विश्वास की भावना उन्होंने पाई थी, वह उनके युग के किसी भी अन्य मानव को प्राप्त नहीं हो सकी थी।

गांधी ने युग को दिशा, ज्ञान दिया-गति दी तथा साहस के साथ आगे बढ़ते रहने की क्षमता दी। उनकी सर्वोपरि देन यह थी कि उन्होंने अपने उदाहरण से पूरे युग

---

[१] हिन्द स्वराज, पृष्ठ ७१

को किसी भी कार्य की "शुद्धि" में दृढ़ निष्ठा प्रदान की। उनके कथनानुसार, "लक्ष्य की सिद्धि ठीक साधनों की सिद्धि के अनुपात में होती है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें अपवाद की कोई गुंजायश नहीं है।"[1]

वे सही चीज में विश्वास करते थे अतः अपवादों की संभावना में अपना समय नष्ट करना उनके लिए न तो आवश्यक था और न ही तर्कसंगत ही था। गांधीजी के विचारों का मंथन इसी छोटे से बिन्दु से प्रारंभ करके किया जा सकता है। उन्होंने हिंसा, व्यक्ति-घृणा, संकीर्ण मनोवृत्ति, असत्य आदि को इसलिए छोड़ दिया क्योंकि वे अपने काउण्टर पार्ट्स (अहिंसा, व्यक्ति-प्रेम, विशाल दृष्टिकोण एवं सत्य) के अपवाद होने के योग्य ही नहीं थे। उन्होंने राजनीति को नैतिकता दी थी, नैतिकता को राजनीति का दान नहीं दिया था अतः राजनीति के क्षेत्र में नैतिक परीक्षण उसी समय संभव थे जबकि साधनों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखा जा सके।

आज का भारत इस बिन्दु के आधार पर गांधीजी के स्वप्नों का भारत नही है—आज का विश्व उनके स्वप्नों का विश्व नहीं है। वे अपने स्वप्नों को यथासंभव साकार रूप देते रहे, उनकी सत्यता को प्रभावशाली ढंग से प्रकट करते रहे फिर भी जमाने ने उनकी गठरी से माल न लेकर तड़क-भड़क की हाटों से सौदा किया। गांधीजी सपनों के सौदागर बने रहे। फिर भी उन्होने ऐसा माल इकट्ठा किया जो

---

[1] मोहन माला, पृष्ठ ७२

आज नहीं तो कल विश्व के काम आएगा क्योंकि उसकी ताजगी एवं शुद्धि समय के बीतने के साथ कम नही पड़ जाती। जब तथाकथित सिद्धियां समय के साथ मेल न खा सकेंगी और पिछड जाएगी तो गाधीजी के शाश्वत सिद्धान्त युग का पथ-प्रदर्शन करेगे। आज की आपा-धापी, कंठ-तोड प्रतियोगिता एव रक्त-रजित 'सभ्यता' मे गांधीजी के विचार कुछ देर के लिए 'सतवाणी' के रूप में भले ही मंदिरों, मस्जिदों एव गिरजाघरों की थाती बने रहें पर मानव को 'मानव' बनाने में उनका योगदान हमेशा बना रहेगा।

गांधीजी के साथ एक विडम्बना तो अवश्य रही है जो संभवत: किसी भी अन्य महापुरुष के साथ इस रूप में न रही हो। उनके विचार जमाने को 'विचार' देकर भी "निजी" बने रहे। उनके प्रस्थान के साथ जमाना फिर भटक गया, विचार-शून्यता आ गई तथा प्रचारकों एवं एजेन्टों के इस विज्ञापन के बाद भी कि वे गांधीजी के विचारों के अनुयायी हैं, गांधी की "छाप" उनमें नहीं दिखाई दी। यह सभवत: हमारी ही अपूर्णता है कि हम उनके "पूर्ण" स्वरूप तक पहुंच नहीं पाये हैं।

धर्म-अर्थ : अर्थ-धर्म

महात्मा गांधी के आर्थिक विचारों की समीक्षा उनके धार्मिक विश्वासों से असम्बन्ध होकर नही की जा सकती। उनकी समस्त क्रियाए कुछ मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित थी अतः आर्थिक क्रियाएं भी उनका अपवाद नहीं थी। उनका चिन्तन पृथक-पृथक क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों को अपनाने का नही अपितु एक ही सिद्धान्त को सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त करने का था। प्रयोगशालाएं भिन्न होते हुए भी उनके उपकरण अभिन्न थे तथा उन्होंने अपने उपकरणों को यथासंभव सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक बनाने का प्रयास किया।

गांधीजी राजनीति की सहचरी के रूप में हिंसा अथवा कूटनीति को स्वीकार नहीं करते थे। आर्थिक क्षेत्र में भी शोषण अथवा धोखाधड़ी अथवा अन्यायसंगत उपाय उनके लिए त्याज्य थे अतः ऐसी किसी भी आर्थिक-व्यवस्था पर हस्ताक्षर करने के लिए वे तैयार नही थे जो उनके धार्मिक विश्वासों से मेल नहीं खाती हो।

ऋषि-परम्परा के होने के कारण उनकी चिन्तन-प्रक्रिया धर्म-अर्थ-काम में से होती हुई मोक्ष (कल्याण) की ओर जाने वाली थी। धर्म उनकी राजनीति अथवा अर्थनीति का

विरोधी उम्मीदवार नहीं अपितु समस्त नीतियों का सम्मिलित आधार था। गांधी के विचारों को इधर उधर से तोड़कर अथवा संदर्भों से काटकर देखने में हम उनके साथ न्याय नहीं कर सकेंगे।

एक तरफ जहां औद्योगिक क्षेत्र मे द्रुत गति से प्रगति हो रही थी; यंत्रीकरण ने पैदावार मे ग्राशातीत वृद्धि कर दी थी; ग्रार्थिक समस्याग्रो के निदान-स्वरूप सर्वहारा की क्राति हो चुकी थी तो दूसरी तरफ गाधी चरखे की गूंज मे विश्वास करते थे; ग्राम्य स्वावलवन मे ग्रास्था रखते थे तथा यत्रीकरण के उन्माद के विरुद्ध थे। उनका विद्रोही व्यक्तित्व तात्कालिक सिद्धियों में विश्वास नही करता था क्योंकि वह युग-सत्य का साक्षात्कार कर चुका था।

गांधी की सबसे अधिक ग्रालोचना यन्त्रीकरण सम्बन्धी उनके विचारों के लिए की जाती है। ऐसा लगता है कि वे घड़ी के काटे को पीछे घुमा रहे हों ग्रथवा प्रगति को रोकने के लिए उठ खड़े हुए हों। यह सशय होना भी स्वाभाविक है कि क्या वे युग की दौड़ का साथ देने में समर्थ हुए ग्रथवा पराजय की भावना को दबाने के लिए उन्होने दौड़ को ही दोपपूर्ण बता दिया? गाधी भी स्वीकार करते थे कि ग्रार्थिक स्वावलबन स्वतत्रता का मूल ग्राधार है फिर यंत्रो का विरोध करने का उनका आधार क्या था? ऐसी क्या बात थी जिससे प्रगति के पद-चिन्हों को मिटाने के लिए वे ग्रातुर हो उठे? समीक्षा करने से पूर्व इन समस्याओं से परिचित होना हमारे लिए ग्रनिवार्य हो जाता है।

गांधीजी मशीनों के पूर्ण बहिष्कार की बात नहीं करते थे—उनके संतुलित प्रयोग की हिमायत अवश्य करते थे। उनको आपत्ति मशीनों पर नहीं; बल्कि मशीनों के लिए पागलपन की स्थिति पर थी। "मेरा उद्देश्य यंत्रों का सर्वथा नाश नहीं वरन् उनकी सीमा बांधना है।"[१] यह बात दूसरी है कि उनके द्वारा खींची गई लक्ष्मण रेखा हमें स्वीकार न हो अथवा युग की मांग को देखते हुए वह निरर्थक लगती हो पर जिस मानवीय समस्या को देखते हुए उन्होंने ये विचार रखे थे उसके पहलुओं पर विचार किए बिना न तो हम इन्हें 'रिजेक्ट' कर सकते हैं और न 'वेस्ट पेपर बास्केट' में फेंकने का दुःसाहस कर सकते हैं।

जिस प्रकार के समाज की उन्होंने कल्पना की थी, उसमें भारत की स्थिति को देखते हुए गांवों की प्रमुखता थी। उनका आर्थिक ढांचा पिरेमिड की तरह ऊपर उठता हुआ नही था क्योंकि उपस्थिति में सबसे नीचे की सतह पर सर्वाधिक भार रहता है और शोषण एवं उत्पीड़न का वही एकमात्र भागीदार बना रहता है। उनके आर्थिक-वृत्त धरातल पर ही व्यापक होने वाले थे; सतहों अथवा मंजिलों के आधार पर ऊचे उठने वाले नहीं थे। प्रत्येक वृत्त का मूल केन्द्र व्यक्ति था। गांधी की विचारधारा में व्यक्ति गरिमा अर्थात उसके श्रम की प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी। इस सामाजिक व्यवस्था में गांधीजी के मतानुसार "ऐसे यंत्रों के लिए कोई स्थान नही है जो मानव के श्रम का स्थान ले ले और शक्ति को कुछ लोगों कि हाथों में केन्द्रित

---

[१] सर्वोदय पृष्ठ, ५०

कर दे। एक सांस्कृतिक मानव-परिवार में श्रम का अपना अद्वितीय स्थान है। प्रत्येक यंत्र, जो प्रत्येक मानव की सहायता करे, उसका स्वागत है।"[1]

गांधी के सामने समस्या यह थी कि भारत के करोड़ों भूखों का पेट भरने की सामर्थ्य किसमें है। व्यक्तियों में अथवा यंत्रों में ? भोजन उन्हें कमाए अथवा खाद्यान्न उगाए बिना तो मिल सकता नही। अब प्रश्न यह था कि उत्पादन के लिए वे अपना पसीना बहाएं अथवा यंत्रों की दया पर निर्भर रहें। वे चाहते थे कि मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता की वस्तुएं उसे उसी प्रकार सरलता से उपलब्ध हों जैसे ईश्वर-प्रदत्त हवा और जल प्राप्त होते है और इस उपलब्धि में उसे शोषण का अनुभव नही करना पडे।

गांधी का दृष्टिकोण यंत्रों पर मर्यादाएं लगाने का था। वे मनुष्य को जड़-यंत्र अथवा यंत्र का पुर्जा बनाने के पक्ष में नही थे। मशीनों के वे इसलिए विरुद्ध थे क्योंकि "भारत के सात लाख गावों में बसने वाले इन जीते-जागते यंत्रों के मुकाबले जड निर्जीव यंत्रो को नहीं खड़ा करना चाहिए।"[2] यंत्रीकरण बेकारी को जन्म देता है तथा इससे पूंजीवाद को प्रसार मिलता है। यह मानते हुए भी कि "सर्व-साधारण का जिसमें भला हो ऐसे यन्त्र को मैं ईनाम दूंगा"[3] महात्मा गांधी यन्त्रीकरण के प्रसार के विरुद्ध

---

[1] हरिजन २८-७-१९४६

[2] हरिजन १६-११-३४

[3] हरिजन १६-११-३४

इसलिए है क्योंकि ऐसी पूंजीवादी व्यवस्था में लोग मजदूरों को कम करने पर तुले हैं और इधर हजारों आदमी बेकार भूखों मर रहे हैं। मैं मुट्ठी भर आदमियों का नहीं, सब मनुष्यों का—मनुष्य मात्र का—समय और परिश्रम बचाना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि धन और सम्पत्ति बढ़े परन्तु केवल कुछ आदमियों के घरों में नहीं, घर-घर में, सबके यहां बढ़े। आज यंत्रों की सहायता से कुछ आदमी करोड़ों के सर सवार हो गये हैं। इसके पीछे श्रम बचाने की परमार्थ वृत्ति नहीं, धन की लालसा है। अपनी सारी ताकत के साथ मैं इस दुष्प्रवृत्ति के खिलाफ लड़ रहा हूं।"[1]

उनकी विचारधारा से असहमत होने का हमें अधिकार है पर इसे प्रायः सभी मानते हैं कि बड़े पैमाने पर होने वाला सामूहिक उत्पादन ही दुनिया की मोजूदा संकटमय स्थिति के लिए उत्तरदायी है। यंत्र यद्यपि मानव समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं पर साथ ही उत्पादन विशिष्ट क्षेत्रों में केन्द्रित हो जाता है। यूरोप और अमेरिका दुनिया के कमजोर एवं असंगठित राष्ट्रों का शोषण इसी बल-बूते पर करते आए हैं। उनकी उत्पादन-शक्ति में आशातीत उन्नति हो चुकी है।

आज स्थिति यह है कि विश्व में यंत्रीकरण, औद्योगीकरण एवं अनाप शनाप उत्पादन के बावजूद गरीबी एवं बेकारी की समस्या बढ़ती जा रही है। संसार में भयंकर

---

[1] यंग इण्डिया १३-११-२४

आर्थिक मंदी फैली हुई है। खाद्यान्नों और कच्चे माल के पर्वताकार संग्रह पड़े हैं जिन्हें खरीदने वालों का अभाव है। करोड़ों लोग बेकार हैं क्योंकि कारखानों में उनके लिए काम नहीं मिलता। लगता है कि उत्पादन-शक्ति की वृद्धि के उपरांत भी संसार उसका उपयोग करने में असमर्थ है। समृद्धि और विपुलता के बीच भी आदमी दरिद्र और भूखा है।

गांधी की यंत्र-विरोधी विचारधारा का मूल्यांकन हमें इस आधार पर करना होगा कि उन्होंने यंत्रों का पूर्ण रूप से विरोध कभी नहीं किया। उनके मतानुसार, "यंत्रों का भी स्थान है और उन्होंने अपना स्थान प्राप्त कर लिया है लेकिन मनुष्यों के लिए जिस प्रकार की मेहनत करना अनिवार्य होना चाहिए, उसी प्रकार की मेहनत का स्थान उन्हें ग्रहण न कर लेना चाहिए। घर में चलाने लायक यंत्रों में सुधार किए जाएं तो मैं उनका स्वागत करूंगा।"[1] स्पष्ट है कि गांधीजी श्रम के विकल्प के रूप में यंत्रों को स्वीकार नहीं करते थे। यंत्र श्रम के पूरक हो सकते थे, विरोधी नहीं।

गांधी ने बड़े उद्योगों की संभावना से इन्कार नहीं किया क्योंकि यथार्थ को ओझल करने की चेष्टा से तो समस्या का समाधान नहीं होता। मृग-मरीचिका भुलावा दे सकती है पर आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकती। वे बड़े उद्योगों पर सरकार का नियंत्रण चाहते थे। राज्य के स्वामित्व के क्षेत्र में गांधीजी पूंजीपतियों के सहयोग की कामना

---

[1] हिन्दी नवजीवन ५-११-२५

करते थे पर हिंसा में आस्था न होने के कारण पूंजीपतियों से सम्पत्ति छीन लेने के पक्ष में नहीं थे। वे उत्पादन के नए साधनों के इसलिए विरोधी नहीं थे क्योंकि नवीनता से उनको एलर्जी थी अथवा वे पुरातन-पंथी थे पर विरोध इसलिए था क्योंकि नए साधन सामूहिक उत्पादन को प्रोत्साहन देते हैं तथा व्यक्तिगत उत्पादन के मार्ग में बाधक हैं। साथ ही बड़े उद्योगों में मानव की स्थिति मशीन के पुर्जे के समान बन गई है। प्रत्येक बड़े उद्योग में एक व्यक्ति एक बहुत छोटा-सा काम करता है तथा पूरे उद्योग की सम्पूर्ण प्रक्रियाओं से परिचित नही हो पाता। इसके विपरीत ग्राम उद्योगों में उत्पादन की समग्र प्रक्रिया का अनुभव किसी व्यक्ति को मिल सकता है तथा वह तज्जनित आनंद का उपभोग भी कर सकता है।

इन विचारों के परिप्रेक्ष्य में यदि देखें तो गांधीजी का यंत्रों के प्रति सीमित विरोध समझ में आ सकता है लेकिन समस्या के दूसरे पहलू की उपेक्षा भी तो नही की जा सकती। एकांगी दृष्टिकोण के आधार पर गांधीजी के विचारों को युगानुकूल होने का प्रमाण-पत्र देना कठिन है। विश्व के अन्य देश जिस गति से उन्नति कर रहे हैं, स्वतंत्र भारत यदि उनके साथ कदम नहीं मिला पाए तो निश्चय ही पिछड़ जाएगा। पराधीनता के लम्बे अभिशाप के कारण वह वैसे ही काफी पिछड़ा हुआ है। युग की आवश्यकता विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान का अधिकाधिक प्रयोग करके हर क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की है। ऐसी स्थिति में हम यदि मात्र ग्राम स्वावलंबन के फेर में पड़े रहे तो विकासशील

देशों के मानचित्र से भारत का नाम स्वतः ही लुप्त हो जाएगा। गांधी के आर्थिक विचारों में एक कमी यह थी कि उन्होंने शहरों की पूर्णतः उपेक्षा की तथा शहरी सभ्यता, उपभोग और आवश्यकता को नजरन्दाज कर दिया। सिद्धान्ततः उनके विचार सही हो सकते हैं पर आज का विश्व उस रूप में आकार ग्रहण करना पसंद नहीं करता। इतिहास ने जो स्वरूप धारण कर लिया है उसे अब पलटना काफी कठिन है। गांधीजी के विचार सार्वकालिक होने का दावा करते हैं लेकिन चूंकि गतिमान विश्व की आवश्यकताएं बदलती रहती हैं अतः वे विचार समय के साथ-साथ कदम मिलाने में असमर्थ हो जाते हैं। आज के विश्व मे कोई भी ग्राम स्वावलंबन की इकाई नही बन सकता। पूरे देश को यदि इकाई मानें तो कही जाकर आवश्यकताओं की पूर्ति का विचार संभव हो सकता है यद्यपि उसके उपरात भी आयात एवं निर्यात का क्रम तो जारी रखना ही होगा। शहरी सभ्यता की नितांत उपेक्षा ने ही गांधीजी को ग्राम स्वावलंबन एवं प्राथमिक आवश्यकताओं तक ही सीमित रखा।

कई बार ऐसा लगता है कि गांधीजी ने इतिहास की धारा को मोड़ने का असफल प्रयास किया था। उनका दृष्टिकोण इतिहास विरोधी प्रतीत होता है। आज तकनीकी एवं वैज्ञानिक ज्ञान ने आशातीत एव अपूर्ववर्ती आयाम ग्रहण किए हैं तथा आज के मानव की प्राथमिक आवश्यकताएं केवल भोजन अथवा वस्त्र तक ही सीमित नही हैं। साधनो की प्रचुरता के साथ आज धधों की सख्या भी इस कदर बढ गई है कि प्रत्येक धंधा मात्र भोजन प्राप्ति की ओर नही ले

जाता। तकनीकी ज्ञान के प्रसार के साथ अन्य क्षेत्रो में जो प्रगति हुई है उसके लिए एक विशाल दृष्टिकोण की आवश्यकता है न कि संकीर्ण विचारधारा पर आश्रित आयोजनों की। तकनीकी ज्ञान अधिकार की वस्तु नही है; उस पर विश्व भर का अधिकार रहता है। यही कारण है कि आज विश्व व्यापी संस्थान उद्योग, व्यापार, उत्पादन एव संचार के क्षेत्र में सक्रिय हैं तथा मात्र ग्राम को इकाई मानने वाले छकडावादी विचारधारा के प्रतीक बन रहे हैं। आवश्यकता घटाने का नारा भी मानव स्वभाव के अनुकूल नहीं है क्योंकि इच्छाओ के बढने एवं उनकी पूर्ति के प्रयासों मे ही तो सभ्यता का निर्माण होता है। अधिक उत्पादन की तकनीकी का निरन्तर विकास हो रहा है। फलतः पूंजी का अधिक विनियोजन एवं अधिक संख्या में लोगों का उत्पत्ति मे योगदान दोनो आवश्यक हो गए हैं।

अधिक मात्रा में उत्पादन की उपादेयता से आज भारत विमुख नही हो सकता। उसे विश्व की प्रगति से कदम मिलाना है। यह कल्पना भी उचित नही कि तकनीकी ज्ञान से वंचित रह कर लोग स्वेच्छा से इच्छाओं की कटौती को पसंद करेंगे। तकनीकी ज्ञान कोई पश्चिमी देशों की सम्पत्ति नही है इस पर सारी मानवता का अधिकार है। भारत को विकास की इस प्रक्रिया से वंचित करना आत्म-हत्या का काम होगा। तकनीकी युग में इच्छाओ के दमन करने का नारा महफिल में मरसिये के समान है। लगता है गांधीजी को युग की सभ्यता मे विश्वास नहीं है। वे इसे शंका की दृष्टि से देखते हैं। उनके अनुसार मनुष्य अपनी इच्छाएं आत्म-

नियत्रण से स्वतः ही कम कर लेंगे पर ऐसा करने वाले तो 'आदर्श' पुरुष होते हैं और 'आदर्श पुरुष' एवं 'आदर्श व्यवस्था' की कल्पना ही इन विचारों को 'युटोपियन' बना देती है। अधिक मात्रा में उत्पादन का लक्ष्य हमें समाजवाद की ओर ले जा सकता है। यह एक निर्णायक कदम है। सार्वजनिक क्षेत्र में बड़े उद्योगों का संचालन ही समाजवाद की आधारशिला है। गांधीजी ने बड़े उद्योगों का विरोध किया पर उन्होंने जो भी कहा विश्वास और आस्था के साथ कहा। उनके सामने भारत की भूखी-नंगी जनता का चित्र था जो बड़े उद्योगों से लाभ नहीं उठा सकती थी। उनके लिए छोटे उद्योग ही अधिक लाभप्रद हो सकते हैं। फिर भी यंत्रीकरण के दोषों से भी वे पूर्णतः परिचित थे।

यंत्रों के प्रति गांधीजी की कठोरता यद्यपि कुछ भावुकता लिए हुए भी थी पर इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि यंत्रों ने मानव सभ्यता को उपहास का पात्र भी बनाया है। अधिकांश तकनीकी विकास लालच पर आधारित है एवं उसमें दूसरों पर आधिपत्य स्थापित करने की कुत्सित भावना रहती है। गांधीजी इस हद तक यह करने में ठीक थे कि यंत्रीकरण के आधुनिक स्वरूप और वर्तमान औद्योगिक संगठन पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है और उसमें वे सारी बातें हटानी होंगी जो मानव के शोषण में सहायक होती हों।

गांधी का यह दृढ़ विश्वास था कि चूंकि भारत अपने गांवों में निवास करता है कोई भी कदम जो ग्रामोद्योग के

विघटन में सहायक हो वह देश के लिए घातक है। उनका विचार यह था कि यदि गांवों में आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन संभव हो सके तो उन वस्तुओं का बड़े औद्योगिक केन्द्रों में निर्माण नहीं होना चाहिए। इस मतके मूल में शोषण को रोकने की तीव्र उत्कठा काम करती थी। वे उद्योगों एव उत्पादन साधनों के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे ताकि विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था गांवों तक जीवनोपयोगी वस्तुओं के निर्माण, वितरण एवं पूंजी के विनिमय में सहायक हो सके। साथ ही इसमे जन-शक्ति के ह्रास होने की संभावना न थी और बेकारी का प्रश्न ही नहीं उठता था। गांधी के अनुसार यदि दुनिया के कुछ अत्यन्त विकसित देश अपने कारखानों में विश्व की आवश्यकताओं के अनुपात में उत्पादन करने लगें तो अन्य देशों में निवास करने वाले लोग क्या करेंगे ? उनके पास कौनसा काम शेष रह जाएगा ? इस दुःखद स्थिति से बचने के लिए ही उन्होंने छोटे उद्योगों के प्रसार की योजना हमारे सामने रखी ताकि श्रम की प्रतिष्ठा एवं आय के साधनों की प्रचुरता को कायम रखा जा सके। भारत की ८५% ग्रामीण जनता न तो तकनीकी 'नो हाउ' के बारे में परिचित है और न ही अपने परम्परागत कार्यों से वह उदासीन है। शहरी वातावरण एवं बड़े-बड़े कारखानों के फल:स्वरूप हमने कितनी उन्नति की ? यही कि तीसरी योजना के अंत में भारत में ६३ लाख लोग बेकार थे। बड़े स्तर पर यंत्रीकरण ने ही तो बेकारी की यह समस्या उत्पन्न की है। जन-शक्ति का इतना अभूतपूर्व ह्रास पहले कभी नहीं हुआ था। गांधी इसलिए ग्रामीण उद्योग धंधों के विकास में तकनीकी ज्ञान को प्रयुक्त करना

चाहते थे ताकि श्रम की प्रतिष्ठा को कायम रखा जा सके ।

ग्रामोद्योग की बात के पीछे नवयुग की मांगों को रिजेक्ट करने की भावना नहीं है । गांधीजी केवल पुराने उद्योगों के पुनरुत्थान की ही बात नहीं कहते पर परिवर्तित समयानुकूल साधनों के आधार पर ग्राम-जीवन से सम्बन्धित नए-पुराने उद्योगों के विकास की बात करते हैं । कपड़े बुनने, तेल पेरने, बढ़ईगिरी के काम करने के साथ ही साथ गांधीजी कागज बनाने, मधुमक्खियों का पालन करने, रेशम के कीड़ों द्वारा रेशम के उद्योग को चलाने, चमडा पकाने; खिलौने बनाने आदि उद्योगों के चलाने की बात भी करते हैं । वे ऐसे यंत्रों के पक्ष मे हैं जिनका उपयोग हर एक व्यक्ति कर सकता है ।

गांधीजी की औद्योगिक योजनाओं का मूल बिन्दु यही था कि भारत में जनशक्ति अर्थात् श्रमशक्ति प्रचुरमात्रा मे है; यंत्र उस शक्ति को बेकार करने में सहायक होते हैं, बेकारी दरिद्रता एवं शोषणवृत्ति को निमंत्रण देती है एव अंततोगत्वा यंत्रीकरण के अभिशाप से देश राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकता । स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आर्थिक स्वावलंबन आवश्यक है और कुटीर उद्योग ही लाखों करोड़ों लोगों को रोजगार देने मे समर्थ हैं । बड़े केन्द्रित उद्योग वस्तुतः बहुत कम लोगों को काम दे पाते हैं । गणना के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि बड़े उद्योगो में १९११ में जहां ११ प्रतिशत लोग लगे थे वहां १९५१ में उनकी संख्या कुल जनसंख्या का ६ प्रतिशत ही

थी।[1] आधुनिकतम आविष्कारों का उपयोग करके अधिक मात्रा में उत्पादन करने वाले बड़े कारखाने वस्तुतः जन संख्या के बहुत थोड़े (नगण्य) हिस्से को काम दे पाते हैं। अतः स्पष्ट है कि यदि पूरी आबादी को बेकारी से बचाना है तो छोटे उद्योगों का विकास करना ही होगा। कुटीर उद्योगों की लहर में वर्ग-संघर्ष की संभावना नहीं रहेगी; थोड़ी पूंजी में अधिक लोगों को रोजगार की सुविधाएं उपलब्ध हो जाएंगी तथा ग्राम्य-स्वावलंबन की दृढ़ आधार-शिला रखी जा सकेगी।

कुटीर उद्योगों में व्यक्ति का व्यक्तित्व विलीन नहीं होता; वह सुरक्षित तथा विकासमान रहता है। व्यक्ति में सूझबूझ एवं कौशल का प्रादुर्भाव हो सकता है। कुटीर उद्योग अहिंसक क्रांति की दिशा में एक दृढ़ कदम है क्योंकि इनमें शोषण, उत्पीड़न अथवा परिग्रह के लिए कोई भी स्थान नहीं होता। ये उद्योग प्रजातन्त्र के विकास में भी सहायक हैं। गांधीजी ने इन उद्योगों का समर्थन जंगलीपन अथवा वहशीपन की तरफ लौटने के लिए नहीं किया पर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अधिक सम्मान एवं सुरक्षा से जीवन बिताने के उद्देश्य से किया।

गांधीजी अपने मन में स्पष्ट थे अतः प्रत्येक बात विश्वास-सहित बलपूर्वक कह सकते थे। उनके मतानुसार ग्रामोद्योगों का यदि लोप होगया तो भारत के सात लाख

---

[1] गांधीवादी प्रयोजन के सिद्धान्त, पृष्ठ ८८

गांवों का सर्वनाश ही समझिए ।"[१] वे जनशक्ति के बेकार हो जाने से चिन्तित थे क्योंकि इससे भारत के आर्थिक ढांचे के चरमरा जाने की संभावना थी । भारत की स्थिति पाश्चात्य देशों के समान नही है । "यहां काम के लिए जितने आदमी चाहिए, उनसे कहीं अधिक बेकार पड़े हुए है । हमारे यहां सवाल यह नहीं है कि हमारे गांवो मे जो लाखों करोड़ों आदमी पड़े हैं उन्हें परिश्रम की चक्की से निकालकर किस प्रकार छुट्टी दिलाई जावे वल्कि यह है कि उन्हें साल में कुछ महीनों का समय यो ही बैठे बैठे आलस में बिताना पड़ता है उसका उपयोग कैसे किया जाय ? "[२]

केवल सस्ती होना ही किसी वस्तु की उपादेयता का एकमात्र आधार नही माना जा सकता । उसके सस्ते होने में कौन से तत्व सहायक हुए हैं तथा वे जनहित में कितने आवश्यक हैं—इस पर विचार करना भी अनिवार्य हो जाता है. उनके मतानुसार मिलों ने अगर हजारों मजदूरो का धंधा छीन कर उन्हें बेकार बना दिया है तो सस्ते से सस्ता मिल का कपड़ा भी गांवों की बनी हुई महंगी से महंगी खादी से भी ज्यादा मंहगा हैं ।" गांधीजी ने कताई बुनाई के धंधे का इसलिए अधिकतम प्रचार किया क्योंकि कपास के उत्पादन से लेकर कपड़े धोने तक के अनेक धंधे इस एक प्रमुख उद्योग से जुड़े हुए हैं । खादी इसीलिए उद्योगों के विकेन्द्रीकरण की

---

[१] हरिजन सेवक २३-११-३४

[२] हरिजन सेवक २३-११-३४

व्यवस्था में केन्द्र-विन्दु वनी हुई है। गांधी गणनाशास्त्र के नियमों अथवा अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के जानकार की हैसियत से अर्थशास्त्री नही थे पर वस्तुस्थिति से परिचित होने एवं क्रियाशील, जागरूक एवं चिन्तनशील दिमाग रखने के नाते क्रियात्मक अर्थशास्त्र के ज्ञाता थे। वे भारत से कच्चे माल.के निर्यात तथा निर्मित माल के आयात के विरुद्ध थे। उन्होंने एक वार कहा था, "हिसाब लगा कर देखा गया है कि नौ करोड़ रुपये का कच्चा चमड़ा हर साल हिन्दुस्तान से वाहर जाता है ओर वह सवका सव वनी वनाई चीजों के रूप में फिर यहां वापस आ जाता है। यह देश का सिर्फ आर्थिक ही नही, वौद्धिक शोषण भी है।"[1]

गांधी ने सूत्र वाक्य नही कहे; वे मठाधीश अथवा भाष्यकर्ता नहीं थे। उन्होंने नारे भी नहीं दिए क्योंकि वे नारेवाज नेता नही थे। उन्होंने प्रत्येक सिद्धान्त का अपने पर प्रयोग किया—सामान्य परिस्थितियो एव सामान्य कठिनाइयों मे प्रयोगों का परीक्षण किया तथा एक वैज्ञानिक की तरह परिणाम निकाले। उन्होंने इतिहास को न तो दुहराया और न ही उसकी निन्दास्तुति की। पोस्टमार्टम की हुई ऐतिहासिक घटनाओं को ताजा स्थितियों की सर्जरी करते समय उन्होंने सदर्भों के रूप में तो स्वीकार किया पर पथप्रदर्शक के रूप में नहीं। वे जानते थे कि, "यदि हमें प्रगति करनी है तो हमें इति-

---

[1] हरिजन सेवक

ह्रास को दुहराना नहीं चाहिए। हमारे पूर्वजों द्वारा छोड़ी गई थाती में हमें विस्तार करना चाहिए। यदि हम भौतिक संसार में आविष्कार अथवा खोज कर सकते हैं तो क्या आध्यात्मिक क्षेत्र में हम अपना दिवालियापन दिखा दें?[1]

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो भी उद्योगों के विकेन्द्रीकरण की नीति अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक है। इसी से अधिक से अधिक रोजगार की व्यवस्था की जा सकती है। भारत जैसे देश के लिए कृषि अथवा कृषि से सम्बन्धित उद्योग ही बढ़ती हुई जन-संख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। भारी उद्योगों की उपयोगिता को मानते हुए भी कुटीर अथवा ग्रामोद्योगों का विकास राष्ट्र की आर्थिक प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है और इसकी उपेक्षा आत्मघाती ही हो सकती है। भारत में अपरिमित जन-बल है। यदि उसे समुचित अवसर दिया जाए तथा बेकारी का अभिशाप समाप्त हो सके तो भारत संसार के किसी भी समुन्नत देश से प्रतिस्पर्धा कर सकता है। लेकिन वस्तुस्थिति इससे पूर्णतया भिन्न है। द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक सैक्टर के खर्च का केवल ४% ही कुटीर-उद्योगों के लिए विनियोजित किया गया। चतुर्थ योजना के निर्माण के समय खर्च की राशि का यह प्रतिशत और कम कर दिया गया। १६००० करोड़ रुपयों में से केवल ३७० करोड़ रुपयों का प्रावधान ग्रामोद्योग के विकास के लिए रखा गया जो योजना के २.३ प्रतिशत खर्च के बरा-

---

[1] इलस्ट्रेटेड वीकली के ५ अक्तूबर १९६६ के अंक से उद्धृत।

बर है। छोटे उद्योग ने सन १९५१ में जहां राष्ट्रीय आय में ९.५ प्रतिशत का योग दिया वहां इस उपेक्षा ने १९६४-६५ में उनका भाग ६.६ प्रतिशत मात्र ही सीमित कर दिया। समय की इसी इकाई में बड़े उद्योगों पर किये जाने वाले खर्च में चौगुनी वृद्धि हुई तथा सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्रीकरण होता रहा। सहकारी समितियां भी इसी नीति के फलस्वरूप कृषकों एवं छोटे उद्योगपतियों की विशेष सहायता करने में असमर्थ रही हैं।

गांधी के विचारानुसार भारत अपनी मूलभूत आवश्यकताएं कुटीर उद्योगों के माध्यम से पूरी कर सकता है। हस्तउद्योग की कलात्मक वस्तुओं के निर्माण से विदेशी मुद्रा भी अर्जित की जा सकती है। विद्युत की सहायता से अधिक से अधिक ग्रामोद्योगों की स्थापना की जा सकती है। सारे भारत का मानचित्र बदला जा सकता है। ग्रामोद्योगों का विकास भारत के लिए ऑक्सीजन की तरह है जिसकी उपेक्षा संभव नहीं हो सकती। गांधीजी के विचारों को संत अथवा महात्मा की सूक्तियों की तरह समय-समय पर याद करने मात्र से काम नहीं चलेगा। ये विचार हमारे राष्ट्रीय जीवन के अंग हैं तथा उन्हें क्रियान्वित करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है।

गांधीजी पर आरोप लगाया जा सकता है कि उन्होंने ऐसे असंभव आर्थिक उपाय सुझाए थे और ऐसी काल्पनिक विधियां बताईं जो उनके अर्थशास्त्र के ज्ञान के आगे प्रश्नवाचक चिन्ह लगाने में पर्याप्त है। गांधी के

साथ कमजोरी यह थी कि वे मनुष्य की मूलभूत अच्छाई में विश्वास करते थे—कष्ट सहन करने की उसकी क्षमता में उनका दृढ़ विश्वास था और उसके बलिदान की भावना का वे सम्मान करते थे। वे यह मानते थे कि मनुष्य चाहे धन अथवा शक्ति से सम्पन्न हो; देश-सेवा के लिए सब कुछ छोड़ सकता है और त्याग का उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है। उनकी कमजोरी यह थी कि जिस बात मे उनको विश्वास हो जाता उसे अतिम सत्य मान लेते और उनके अतिरिक्त अन्य बातों में उलझना उचित नही समझते थे।

गांधीजी ने संरक्षण के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह सभी प्रचलित आर्थिक नीतियों के विरुद्ध है अतः ग्राह्य नही है। पर उनके अनुसार यह इसलिए सही है क्योंकि इसका आधारभूत विचार मानव-कल्याण की भावना से ओतप्रोत है। गांधीजी जानते थे कि इस सिद्धान्त के सूत्र-धार सच्चे ट्रस्टी मिलने असंभव हैं पर चूंकि सिद्धान्त सही है इसलिए बाकी सब बातें गौण हैं। वे मानते थे कि मनुष्य जाति की नियामक शक्ति प्रेम है अतः धनी लोग स्वेच्छा से अतिरिक्त धन को समाज की सम्पत्ति मान कर उसका संरक्षण अपना पुनीत कर्तव्य समझ लेंगे। इस सिद्धान्त के परिपालन के पीछे हिंसा को टालने का भी एक प्रेरक विचार था। मानव की प्रकृति से वे अपरिचित नही थे। वे यह जानते थे कि समाजवाद के नाम पर लोग पूंजीपतियों की सम्पत्ति छीनने में हिंसा पर उतारू होंगे और उससे हिंसा की आग भड़क उठेगी। यहां उनके सारे राजनीतिक दर्शन की अग्नि-परीक्षा का प्रश्न था; उनका सारा जीवन ही

सामाजिक मान्यता अथवा अवमानना के तंग कगारों पर खड़ा था; उनकी पूरी साधना कसौटी पर चढ़ी हुई थी। हिंसा का सहारा लेकर सर्वहारा की क्रांति जैसा दृश्य उपस्थित करे अथवा प्रेम से संरक्षण की स्थिति मे लाकर पूंजीपतियों का हृदय-परिवर्तन करे—यह मुख्य समस्या थी। गांधी ने स्वभावत: अहिंसा का पक्ष लिया और हिंसा का खतरा नही उठाने के कारण पूंजीवादी व्यवस्था की परोक्ष रूप से सहायता कर दी। "मेरा विश्वास है कि राज्य ने यदि हिंसा से पूंजीवाद को दबाने की चेष्टा की तो वह स्वय ही हिंसा के जाल में फंस जाएगा और फिर कभी भी अहिंसा का विकास नही कर सकेगा। राज्य हिंसा का एक केन्द्रित और संगठित रूप ही है।"[1]

गांधीजी जिस भी सिद्धान्त में आस्था रखते थे; उनका आग्रह यही रहता था कि बाकी सारे लोग भी उसे अपनावें। यह आवश्यक नही कि वह सिद्धान्त तर्क-शास्त्र के सामान्य नियमों के अनुसार भी पुष्ट हो पर उसका सही होना ही उसके अपनाए जाने की शर्त थी। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के बारे में उनका कथन था कि "मेरा ट्रस्टीशिप सिद्धान्त कोई ऐसी चीज नहीं है जो काम निकालने के लिए आज घड़ लिया गया हो।...उसके पीछे तत्वज्ञान और धर्म के समर्थन का बल है। धन के मालिकों ने इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण नहीं किया है, इस बात से यह सिद्ध नहीं होता कि यह सिद्धान्त झूठा है। इससे धन के मालिकों की कमजोरी मात्र

---

[1] दी मॉडर्न रिव्यू १९३५ पृष्ठ ४१२

सिद्ध होती है।"[1] गांधीजी की विचारधारा में बल प्रयोग अथवा अंकुश को स्थान नहीं था अतः उनके अनुसार, "धनवान लोग चाहे करोड़ों रुपये कमाएं (बेशक ईमानदारी से) लेकिन उनका उद्देश्य वह सारा पैसा कल्याण में समर्पित कर देने का होना चाहिए। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' मंत्र में असाधारण ज्ञान भरा पड़ा है।..."सर्व कल्याणकारी नई जीवन पद्धति का विकास करना हो तो उसका सबसे निश्चित मार्ग यही है।"[2]

गांधीजी मनुष्य की प्राकृतिक भलाई में विश्वास करते थे अतः मानते थे कि ट्रस्टी के पास करोड़ों रुपये होते हुए भी वह उसमें से एक भी पाई अपनी नहीं समझेगा। इसके अतिरिक्त संरक्षण की योजना स्वीकार कर लेने से जनता को पूंजीपतियों के धन के उपयोग के साथ-साथ उनकी बुद्धि योग्यता और कार्य-कुशलता का उपयोग करने को भी मिल जाएगा। "अहिंसक मार्ग यही है कि जितनी उचित मानी जा सके, अपनी उतनी आवश्यकताएं पूरी करने के बाद जो पैसा बाकी बचे, उसका वह जनता की ओर से ट्रस्टी बन जाय। अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा तो जो पैसा पैदा करेगा, उसका सद्व्यय भी करेगा"[3]

गांधीजी के उपरोक्त विचारों के हम साझीदार नहीं हैं और न उन्हें व्यावहारिक ही मानते हैं। पूंजीपतियों के

---

[1] हरिजन १६-१२-३६

[2] हरिजन १-३-१९४२

[3] मेरा समाजवाद ३२

सामाजिक मान्यता अथवा अवमानना के तंग कगारों प
खड़ा था; उनकी पूरी साधना कसौटी पर चढ़ी हुई थी। हिंसा का सहारा लेकर सर्वहारा की क्रांति जैसा दृश्य उपस्थित करे अथवा प्रेम से संरक्षण की स्थिति में लाकर पूंजीपतियों का हृदय-परिवर्तन करे—यह मुख्य समस्या थी। गांधी ने स्वभावतः अहिंसा का पक्ष लिया और हिंसा का खतरा नहीं उठाने के कारण पूंजीवादी व्यवस्था की परोक्ष रूप से सहायता कर दी। "मेरा विश्वास है कि राज्य ने यदि हिंसा से पूंजीवाद को दबाने की चेष्टा की तो वह स्वयं ही हिंसा के जाल में फंस जाएगा और फिर कभी भी अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा। राज्य हिंसा का एक केन्द्रित और संगठित रूप ही है।"[1]

गांधीजी जिस भी सिद्धान्त में आस्था रखते थे; उनका आग्रह यही रहता था कि बाकी सारे लोग भी उसे अपनावें। यह आवश्यक नहीं कि वह सिद्धान्त तर्क-शास्त्र के सामान्य नियमों के अनुसार भी पुष्ट हो पर उसका सही होना ही उसके अपनाए जाने की शर्त थी। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के बारे में उनका कथन था कि "मेरा ट्रस्टीशिप सिद्धान्त कोई ऐसी चीज नहीं है जो काम निकालने के लिए आज घड़ लिया गया हो।...उसके पीछे तत्वज्ञान और धर्म के समर्थन का बल है। धन के मालिकों ने इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण नहीं किया है, इस बात से यह सिद्ध नहीं होता कि यह सिद्धान्त झूठा है। इससे धन के मालिकों की कमजोरी मात्र

[1] रिव्यू १९३५ पृष्ठ ४१२

सिद्ध होती है।"[1] गांधीजी की विचारधारा में वल प्रयोग अथवा अंकुश को स्थान नहीं था अतः उनके अनुसार, "धनवान लोग चाहे करोड़ों रुपये कमाएं (वेशक ईमानदारी से) लेकिन उनका उद्देश्य वह सारा पैसा कल्याण में समर्पित कर देने का होना चाहिए। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' मंत्र में असाधारण ज्ञान भरा पड़ा है।" "सर्व कल्याणकारी नई जीवन पद्धति का विकास करना हो तो उसका सबसे निश्चित मार्ग यही है।"[2]

गांधीजी मनुष्य की प्राकृतिक भलाई में विश्वास करते थे अतः मानते थे कि ट्रस्टी के पास करोड़ों रुपये होते हुए भी वह उसमें से एक भी पाई अपनी नहीं समझेगा। इसके अतिरिक्त संरक्षण की योजना स्वीकार कर लेने से जनता को पूंजीपतियों के धन के उपयोग के साथ-साथ उनकी बुद्धि योग्यता और कार्य-कुशलता का उपयोग करने को भी मिल जाएगा। "अहिंसक मार्ग यही है कि जितनी उचित मानी जा सके, अपनी उतनी आवश्यकताएं पूरी करने के बाद जो पैसा बाकी बचे, उसका वह जनता की ओर से ट्रस्टी बन जाय। अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा तो जो पैसा पैदा करेगा, उसका सद्व्यय भी करेगा"[3]

गांधीजी के उपरोक्त विचारों के हम साझीदार नहीं हैं और न उन्हें व्यावहारिक ही मानते हैं। पूंजीपतियों के

---

१ हरिजन १९-१२-३९
२ हरिजन १-१-१९४२
३ मेरा समाजवाद ३९

लिए धन का आकर्षण इतना अधिक होता है कि वे उसे छोड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकते। फिर यह सीमा निश्चित करना भी उन्हीं का काम है कि उन्हें अपनी आवश्यकता के लिए कितना धन रखना चाहिए ? सामान्य अनुभव यह बताता है कि पूंजी का यह उत्पादन श्रम के शोषण से होता है। पूंजीपति पूंजी के परिग्रह से ही परिचित हैं। अपरिग्रह की वे शपथ तो ले सकते हैं पर उसे निभा नहीं सकते। हिंसा के भय से सामाजिक शोषण का दर्शक बनना और परोक्ष रूप से उसका भागीदार बनना युक्तियुक्त नहीं हो सकता। गांधी ने क्रांतिकारी बातें भी कही हैं पर सम्भवतः वे किसी आवेश में ही निकली हैं क्योंकि उन्होंने पुनः ऐसी बातों को गंभीरता की लपेट में ले लिया है। स्वेच्छा से ट्रस्टी नहीं बनने पर संभावित खतरों की ओर उन्होंने इशारा किया है। "लोग यदि स्वेच्छा से ट्रस्टियों की तरह व्यवहार करने लगें तो मुझे सचमुच बड़ी खुशी होगी लेकिन यदि वे ऐसा न करें तो मेरा ख्याल है कि हमें राज्य के द्वारा भरसक कम हिंसा का आश्रय लेकर उनसे उनकी सम्पत्ति ले लेनी होगी...यही कारण है कि मैंने गोलमेज परिषद में यह कहा था कि सभी निहित हित वालों की सम्पत्ति की जांच होनी चाहिए और जहां आवश्यक हो वहां उनकी सम्पत्ति राज्य को मुआवजा देकर या मुआवजा बिना दिए ही अपने हाथ में कर लेनी चाहिए।"[1] यहां हमें क्रांतिकारी गांधी के दर्शन होते हैं पर सारे आवेश के बावजूद वे कम से कम हिंसा के प्रयोग की बात करने में बहुत

---

[1] The Modern Review 1935

सतर्क हैं। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से मुआवजे अथवा बिना मुआवजे के संपत्ति पर सामाजिक नियंत्रण संभव हो सकता है। गांधीजी के उपरोक्त विचारों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में लागू किया जा सकता है। यदि सार्वजनिक क्षेत्र का अधिक विस्तार किया जावे; उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जावे तथा जहा उचित हो धनिकों को वास्तव में 'ट्रस्टी' की तरह अपनी पूंजी का कुछ भाग ही उपयोग में लेने दिया जावे संभवतः समाज मे उचित वितरण की व्यवस्था हो सकती है। इसके लिए संविधान की धाराएं सर्वप्रभुता सम्पन्न संसद के द्वारा अनुकूल बनाई जा सकती हैं। केवल ट्रस्टीशिप के नारे में विश्वास करने का तात्पर्य परोक्ष रूप से पूजीपतियों को बढावा देना है तथा भारत की संपत्ति कुछ परिवारों के हाथों में केन्द्रित करना है।

गांधीजी शोषण मे शोषितो के सहयोग को भी उत्तरदायी मानते हैं। चाहे यह सहयोग ऐच्छिक हो अथवा बलात् लिया गया हो—शोषण तभी सभव है जब शोषित उसमे सहयोग करें। "All exploitation is based on co-operation—willing or forced of the exploited. However much we may detest admitting it, the fact remains that there would be no exploitation if people refused to obey the exploiter"[1] यदि हम पूंजीपतियों के साथ सहयोग यथासभव कम कर दें तो संभवतः शोषण भी उसी अनुपात

---

[1] Selections from Gandhi—9

में कम हो जाएगा । क्या इन शब्दों में अधिक वेतन
मांग; धरने, हड़ताल, असहयोग आदि के संकेत मिलते है
यह सोचने की बात है । आज के धरनों ने जो रूप धा
कर लिया है यह गांधीजी की कल्पना से बिल्कुल परे था ।
आत्म-पीड़न द्वारा दूसरों का हृदय-परिवर्तन करके सि
प्राप्त करते थे । आज धरना आत्मपीड़न का नहीं, प
पीड़न का माध्यम है । यह राजनीतिक जबरदस्ती
प्रमाण-पत्र है; शारीरिक रूप से घेर कर अथवा अन्य बाध
उपस्थित कर विवशता में निर्णय करवाने का तरीका है
गांधीके सारे सिद्धान्त ही धरनेकी वर्तमान परिभाषा के अ
उपेक्षित रह जाते हैं । पर आज की परिस्थितियां हमें धर
और घेरावों के परिवेश ही दे रही हैं जिनमें कुण्ठ
ग्रस्त मानव जीते हैं । घेराव की उपलब्धि थोड़े समय त
भले ही रुचिकर हो; अंततः वह स्थाई सफलता नहीं
सकती । आज तो स्थिति यह है कि घेराव का प्रचार कर
वालों के ही घेराव होने लगे हैं और उन्हें नए संदर्भों
अपनी नीति पर पुनर्विचार करना पड़ रहा है ।

गांधी ने सिद्धान्तों को नैतिक धरातल दिया तथ
सामाजिक परिवेश में परीक्षण द्वारा पुष्ट किया । प्रत्ये
सिद्धान्त के पीछे उनके जीवन भर की आस्था थी । उन्हों
जो कुछ कहा हृदय की सत्यता एवं पूर्ण उत्तरदायित्व
साथ कहा । व्यक्तिगत स्वार्थों अथवा सत्ता के संघर्षों ने उन्हे
सिद्धान्त अपनाने अथवा ठुकराने के लिए कभी प्रेरित नह
किया । वे इन सबसे परे थे । जो सिद्धान्त उन्होंने निर्दो
रूप से दिए, लोगों ने उनके चारों ओर स्वार्थों का घेरा डाल

दिया तथा अपने-अपने हितों के अनुसार उन्हें नए अर्थ दे दिए। उनका संरक्षण का सीधा-सादा निर्दोष उपाय 'बिड़ला और डालमिया का पवित्र फार्मूला बन गया।'[1] राजाओं एवं जमींदारों को भूमि का ट्रस्टी बने रहने देने की उनकी मंत्रणा सम्बन्धित लोगों के लिए रक्षा-कवच का काम करने लगी। सबने अपने-अपने हितों के दायरों में गांधी का सहारा लिया और उनके 'अप्रिय' कथनों को सुविधा से छोड़ दिया। यह सुविधा की राजनीति आज भारत में, अन्य देशों की तरह निर्बाध रूप से चल रही है। इस परिवेश के बीच गांधी कहीं खो गया है।

गांधी गरीब जनता की आवश्यकता से परिचित थे। वे जानते थे कि लोगों की आम जरूरत रोटी है। रोटी के सवाल के साथ आजादी, जनतंत्र अथवा देश प्रेम जुड़ा हुआ है। भूखों के लिए रोटी भगवान से ज्यादा जरूरी है—अतः रोटी ही भक्ति की प्रथम शर्त है। रोटी के अभाव में आध्यात्म ज्ञान रूखा है तथा नैतिकता की बातें व्यर्थ का प्रलाप है। गांधी के अनुसार "उनसे (भूखों से) आधुनिक प्रगति की बातें न कीजिए। उनके सामने व्यर्थ ही ईश्वर का नाम लेकर उनका अपमान न कीजिए"[2]···मुझे उनके पास ईश्वर का सदेश ले जाने की हिम्मत नहीं होती। मैं उन करोड़ों भूखों के सामने, जिनकी आंखों में तेज नही है और जिनका ईश्वर उनकी रोटी में है, ईश्वर का नाम लूं तो वहां खड़े

---

[1] रजनी पामदत्त के एक लेख से

[2] यंग इण्डिया १-४-३१

किसी कुत्ते के सामने भी ले सकता हूं।"[1]

लगता है गांधी ने ईश्वर को नकार करके रोटी को प्राथमिकता दी है। वे साम्यवाद की भाषा में बोलते हुए दिखाई देते हैं। पर उनका 'साम्यवाद' इस सीमा तक ही है—आगे गांधीवाद का अछूता क्षेत्र है क्योंकि वे विप्लव अथवा विध्वंस में विश्वास नहीं करते। धनिकों को त्याग का उपदेश देकर मान लेते हैं कि वे दरिद्रनारायण की सेवा के लिए द्रवित अथवा विचलित हो जाएंगे। गांधी की मौलिक भूल यही है कि वे जिस अच्छाई में विश्वास करते हैं उसे तुरन्त ही सार्वभौमिक मान लेते हैं—उसमें कोई अपवाद नहीं, कोई विकल्प नहीं, कोई संशोधन नहीं—गांधी के बताए गए साधन इसीलिए पहले दाव में ही चित आए क्योंकि उन्होंने विरोधी तत्वों (भ्रष्टाचार, निजी स्वार्थ आदि) के बल को तोला ही न था।

गांधीजी को भारत के विपुल जनबल पर अभिमान था। जनशक्ति को वे श्रम की शक्ति के रूप में देखते थे। वे करोड़ों लोगों के पास ईश्वर का संदेश पवित्र परिश्रम के संदेश के रूप में ले जाने वालों में थे। "रोटी के लिए हर एक मनुष्य को मजदूरी करनी चाहिए, शरीर (कमर) को झुकाना चाहिए, यह ईश्वर का कानून है…जो मजदूरी नहीं करता उसे खाने का क्या हक है ?"[2] यहां तक तो एक संत की वाणी है—एक महात्मा की जो अपने श्रम से जीवित

---

[1] यंग इण्डिया १५-१०-३१

[2] मंगल प्रभात पृष्ठ ४१-४४ प्रक०६

रहने का सदेश देता है—किसी पर भार नही बनने की सलाह भर देता है। पर इसके आगे एक समाज-सुधारक अपना पद भार संभाल लेता है। "मेरी अहिंसा किसी ऐसे तंदुरुस्त आदमी को मुफ्त खाना देने का विचार बरदाश्त नही करेगी जिसने उनके लिए ईमानदारी से कुछ न कुछ काम न किया हो; मेरा बस चले तो जहां मुफ्त भोजन मिलता है, वे सब सदाव्रत मैं बन्द करा दूं।"[1] ...भीख मांगने का प्रोत्साहन बेशक बुरा है लेकिन मैं किसी भिखारी को काम और भोजन दिए बिना नही लौटाऊगा। हां, वह काम करना मंजूर न करे तो मैं उसे भोजन के बिना ही चला जाने दूंगा।"[2] उनका श्रम उनके चर्खे मे सुरक्षित था जो बेकारी के विरुद्ध एक स्थाई गारंटी देता था। गाधी के सामने श्रम के साधन बटोरने की समस्या थी पर उन्होंने उनका निदान खोज निकाला। आज का भारत एक विरोधाभास की तस्वीर उपस्थित करता है। गाधीजी रोजगार देने के लिए योजनाओं में विकेन्द्रीयकरण के पक्ष मे थे — आज केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है। प्रत्येक ग्राम अथवा शहर द्वारा स्थानीय मांगों के लिए स्थानीय साधनो एवं उपलब्ध श्रम शक्ति का प्रयोग करने मे उनका विश्वास था—आज सारा ढांचा ऊपर का है और उसे योजना के नाम पर संरक्षण मिल रहा है। उनका सारा ध्यान प्राथमिक आवश्यकताओं की वस्तुएं—भोजन, वस्त्र और उपभोक्ता-सामान—पैदा करने पर था। आज प्राथ-

---

[1] यग इण्डिया १३-८-३५

[2] हरिजन ११-५-३५

मिकताओं के निर्धारण में सारा समय चला जाता है पर उनका उचित चयन नहीं हो पाता। देश का पेट भरने की योजनाएं इस्पात के कारखानों, भारी यंत्रों की निर्माणशालाओं और उद्योगों की स्थापना में बनती हैं। खेत और खलिहान उपेक्षित रह जाते हैं। गांधी को out of date कहने वालों की सारी बातें out of order हैं। गांधी आज उतना ही वैलिड है जितना अपने जीवनकाल में था।

उनके सारे आर्थिक विचार इन दो पंक्तियों में सीमित हो जाते हैं—"Each man should do physical labour to satisfy his most essential needs and no one has a right to take more than what he needs."[1]

ये सूत्र वाक्य हैं जिन पर किसी भी आर्थिक नीति की सुदृढ़ आधारशिला रखी जा सकती है पर सत्ता में मदांध व्यक्ति, पूंजीपति अथवा पढ़े लोग जो सामाजिक खटमल हैं, इस सिद्धान्त को व्यावहारिक नहीं मानते और उसे प्रारंभ में ही ठुकरा देने का प्रयत्न करते हैं।

गांधीजी सिद्धान्ततः समान वितरण की नीति के पक्ष में थे पर वर्तमान स्थितियों में व्यावहारिक नहीं होनेके कारण उन्होंने न्यायोचित वितरण व्यवस्था का समर्थन किया। भारत में जहां लाखों लोगों को भरपेट भोजन नहीं मिलता, न्यायोचित वितरण का नारा अपने आप में एक महान क्रांति-

---

[१] यंग इण्डिया १-४-११, १५-११-२८

कारी कदम था। यद्यपि वे इस विभीषिका से परिचित थे कि जब तक अमीर-गरीब के बीच भयंकर खाई है, समान अथवा न्यायोचित वितरण सर्वथा असभव है। वे प्रत्येक मनुष्य को अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने की स्थिति में लाना चाहते थे। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की मूलभूत आवश्यकताएं भिन्न हैं अत. न्यायिक वितरण से प्रयोजन ऐसी प्रणाली से था जिससे सब व्यक्ति आवश्यकतानुसार संपत्ति अर्जित कर सकें। इस वितरण व्यवस्था के साथ ही गांधीजी ने आवश्यकताओ एव इच्छाओ में कटौती का भी नारा दिया था। इच्छाओं की वृद्धि पर यह नारा नैतिक अंकुश था। प्रश्न उठता है कि क्या न्यायोचित वितरण के नाम पर गांधीजी गरीबों को सिर्फ एक सीमा तक ही ऊंचा उठाना चाहते थे ? क्या वे धनवानों को परोक्ष रूप से संरक्षण दे रहे थे ? यह स्पष्ट है कि पूंजीपतियों की मौलिक आवश्यकताएं गरीबों की प्राकृतिक आवश्यकताओं से काफी ज्यादा हैं तो क्या गाधीजी शक्करखोरो को शक्कर देने और गरीबों को रूखी सूखी रोटी से सतुष्ट हो जाने का समर्थन करते थे ? ये सारे प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं पर गांधी के लिए पूंजीपतियों के साथ पक्षपात करने की बात कहना एक प्रकार से उनके साथ अन्याय करना होगा। उनका यह कथन कि "एक न एक दिन एक हिसक एव खूनी क्रांति का होना अवश्यभावी है, यदि धनवान अपनी सपत्ति और उसमें प्राप्त शक्ति का स्वेच्छा से परित्याग नहीं करते और उसे सार्वजनिक हित में नहीं लगाते",[1] किसी भी क्रांतिकारी उद्घो-

---

[1] "A violent and a bloody revolution is a certainty

घृणा से कम नहीं है । वे ऐसी वितरण व्यवस्था चाह
जिसमें पूंजी और श्रम का अनवरत संघर्ष कम हो सके
कुछ धनवानों का जिनके हाथों में अधिकांश राष्ट्रीय पू
केन्द्रित है, स्तर नीचे आए जबकि असंख्य गरीबों का जी
स्तर उन्नत हो सके ।

गांधीजी की यह धारणा तर्क की कसौटी पर ठीक
बैठती कि प्रत्येक को सामाजिक पूंजी में से अपनी आव
कतानुसार ले लेने का अधिकार है । यहां आवश्यकता
निर्धारण कौन करेगा ? अधिक आवश्यकता वाले स्वेच्छा
अपनी इच्छाओं में कटौती नहीं करेंगे और दीन-हीन लोगों
पास न तो सपत्ति का सम्बल है और न सत्ता का सहारा
वे क्रांति कर पायेंगे । क्रांति का नारा दे देने अथवा भवि
वाणी कर देने मात्र से सामाजिक व्यवस्था नहीं बद
करती ।

गांधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त न्यायोचित वितर
को पूंजीपतियों की दया पर छोड़ देता है अतः वह वर्तमा
परिप्रेक्ष्य मे असंगत है । यद्यपि समभागीय वितरण दूर
कल्पना है पर न्यायिक वितरण तो एक ऐसा मुखौटा है
गरीब जनता को और अधिक भाग्यवादी बनाने को बा
करता है । यह छद्म वेष में पूंजी का समर्थन करने के अ

---

one day unless there is a voluntary abdication o
riches and the power that riches gives and shar
ing them for the common good."

—Selection from Gandhi 77-7

वर है। गांधीजी आदर्श और वास्तविकता का भेद जानते थे अतः उन्होंने कहा, "मेरा आदर्श तो सम-वितरण (Equal distribution का है पर जहां तक मुझे दिखाई देता है, वह प्राप्त नही हो सकता, इसलिए मैं न्याय्य वितरण Equitable distribution के लिए कार्य करता हूं।"[1] गांधीजी जानते थे कि मनुष्यों की रुचियां और आवश्यकताए गुण दृष्टि से अथवा सख्या दृष्टि से समान नहीं हो सकती। मार्क्सवाद की भी यही धारणा है। मार्क्सवादी समस्त शोषितों का शोषण से उद्धार करके, पूंजीपतियों की निजी सपत्ति समाप्त कर उसे राष्ट्रीय आयोजनो मे लगा करके, योग्यता के अनुसार काम देकर काम के अनुसार भुगतान करके, वितरण की व्यवस्था का सचालन करना चाहते हैं। यदि सब शर्तें गांधीजी के विचारों के अनुकूल रहें तो उनका न्यायिक वितरण भी उपरोक्त धरातल पर आ सकता है। पर सब शर्तें सदैव साथ दें—यह जरूरी नही है। हमारा संविधान पूंजी का अधिकार देता है; बिना मुआवजे के किसी को पूंजी से वंचित नही किया जा सकता। हमारे राष्ट्रीय आयोजन में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनों का बराबर योगदान है। यही कारण है कि धनवान अधिक धनवान हो रहे हैं, गरीब पिस रहे हैं तथा बेकारी बढ़ रही है।

भारत में वितरण की स्थिति को देखें तो लगेगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में जितनी असमानता नही है उतनी शहरी क्षेत्रों में है। स्वतंत्रता के बाद शहरी क्षेत्रों में असमानता

---

[1] यंग इण्डिया III पृष्ठ १२४

कुछ बढ़ी हैं. ग्रामीण क्षेत्रों में थोड़ी-सी कम हुई है प समग्र रूप से पूंजी के वितरण की असमानता पूर्ववत बनी हुई है। खेतीहर मजदूर की अपेक्षा फैक्ट्री अथवा खान कर्मचारी की आय में वृद्धि हुई है। देश के अधिकांश भागों मे भूमिहीन किसानों की आय मे वृद्धि न होना समाजवाद से हमें काफी दूर रखे हुए है। बेकारी की गति में निरतर विकास भी आर्थिक असतुलन बढ़ाने मे सहायक हुआ है। योजना के आंकड़ों के अनसार १९६१ मे जहां ७० लाख लोग बेकार थे, १९६६ में ९८ लाख लोग बिना रोजगार के हो गए।

ये सारी स्थितियां हमें यह सोचने को तत्पर करती हैं कि मात्र ट्रस्टीशिप पर विश्वास करके न्यायिक वितरण की योजना बनाना केवल काल्पनिक प्रयास होगा। आदर्श रूप में गांधीजी के कथन शत-प्रतिशत सही हैं पर आदर्श और व्यवहार मे सदैव अन्तर होता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यदि इस बात को सभी वर्ग स्वीकार कर लें तो भारत में आर्थिक विघटन दूर हो सकता है पर इस "यदि" को यदि नहीं हटा सकें तो यह एक ऐसी शर्त बनी रहेगी जो पूरी नहीं की जा सकती अतः आगे का कार्य भी नही हो सकेगा।

गांधीजी के विचारों के सदर्भ में ऐसा लगता है कि उनका मानस परम्पराओं से प्रेरणा ले रहा था न कि वैज्ञानिक प्रगति-धाराओं से। उन्होंने जहां से भी वैचारिक प्रेरणा ली वह उनके परम्परागत सिद्धान्तों को पुष्ट करने वाली थी। उनके हृदय में विकासमान व्यावसायिक सभ्यता के प्रति गहरा असतोष था क्योंकि इस व्यवस्था में मानव हृदय अपनी पृथक इयत्ता खोकर एक "बिजनिस पीस"

बनता जा रहा था। उन्होने परिवर्तनशील परिस्थितियों मे धार्मिक विचारों का पुनर्मूल्यांकन अवश्य किया पर अततः उनके सारे प्रयोग परम्पराओं के व्यापक धरातल तक ही सीमित रहे। गांधी में विरोधाभास और अंतर्विरोध का मथन भी इसी सदर्भ में करना होगा। उनमे मूलभूत धार्मिक कट्टरता के साथ जीवन की वास्तविकता का अद्भुत सामंजस्य मिलता है। आत्मपीडन के वैयक्तिक भावो के साथ सामाजिक उद्देश्यपूर्ण भौतिक सादगी का मिश्रण दिखाई देता है।

गांधीजी के सामने चुनौतियां भी इसी प्रकार की थी। उनके चिन्तन मे जड़ता नही थी अतः वे परिवर्तन की सभावना को नहीं ठुकराते थे। प्रारभ मे समान वितरण की व्यवस्था को स्वीकार करने वाले गांधी ने अंततः न्यायिक वितरण को ही संभव बताया क्योंकि सामाजिक परिस्थितियां समान वितरण के अनुकूल नही थी। हिंसा की सभावना ने उनको कई आदर्शों को कोल्ड-स्टोरेज मे रखने अथवा विकल्प सोचने को बाध्य किया था। पूंजी के असामाजिक सग्रह को "डाका" अथवा ''चोरी'' समझते हुए भी उसे ट्रस्टीशिप के नाम पर उसी व्यक्ति के पास रहने देने के लिए वे तैयार थे जिसने अनैतिक उपायों से वह पूंजी प्राप्त की है। हां, उसका शाब्दिक रूप-परिवर्तन उन्होंने अवश्य कर दिया था। ये विचार वर्तमान स्थितियों में सगत भले ही न लगें पर आदर्श रूप से उन्होने ऐसे समाज की कल्पना की थी जो त्याग की मनोवृति से वितरण की न्यायोचित व्यवस्था में सहयोग देगा।

गांधीजी गांव को आर्थिक एवं प्रशासनिक ढांचे की इकाई बनाने के पक्ष में थे। उनके जीवनकाल में ही जिस संविधान-सभा का गठन हुआ उसने गांधीजी के विचार को प्रमुखता नहीं दी। उनके व्यक्तित्व की छाप संविधान-सभा के निर्णयों पर नहीं पड़ी तथा शोषणहीन समाज की स्थापना में उनकी मान्यताओं को मूर्त रूप नहीं दिया गया। भारत की स्वतंत्रता तो मंजिल का एक प्रस्तर थी। आर्थिक आजादी के रूप में एक और महाक्रांति लाने के उनके स्वप्न अधूरे ही रह गए। गांधी के विचारों को संविधान-सभा ने कोई महत्व नहीं दिया क्योंकि योजनाओं का सारा ढांचा ऊपर से नीचे की ओर चलने वाला बनाया गया न कि नीचे से ऊपर की ओर जाने वाला बना।

गांधीजी भारतके हजारों गांवों का स्वरूप वहां के नागरिकों की इच्छाओं, आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के अनुसार बनाना चाहते थे। उनकी धारणा को यदि मूर्त रूप दिया जाता तो भारत के सात लाख गांवों की पंचायतें प्रति पंचायत एक मत की गणना से जिला प्रशासन का निर्वाचन करतीं जो अपनी बारी में राज्य प्रशासन के स्वरूप का निर्धारण करते और भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन राज्य-प्रशासन के मतों के आधार पर होता। मूल बात यह थी कि गांधीजी गांव को शासन की इकाई मानते थे और सारा प्रशासनिक ढांचा सीढ़ी दर सीढ़ी ऊपर की ओर जाने वाला बनाना चाहते थे ताकि गांवों का व्यक्तित्व शहरीकरण की चकाचौंध में विलीन न हो जावे। यहां गांधी का परम्परावादी दृष्टिकोण फिर हावी हो रहा था और भारत की इस

प्राचीन संस्था—ग्राम पंचायत—के पुनरुद्धार की बलवती आशा ने ही उन्हें यह विचार रखने को प्रेरित किया था।

छोटी इकाई की गांधीवादी विचारधारा को ही यदि मानदंड माना जाय तो गाव से भी छोटी इकाई व्यक्ति स्वयं है। व्यक्ति की गरिमा को अक्षुण्ण रखने का हमारे सविधान में प्रावधान है। व्यक्ति को ग्राम अथवा शहर के घेरों से बांधना उसके व्यक्तित्व का "घेराव" करना है। सारी विचारधाराओं का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति ही होना चाहिए। गाव में स्थानीय चर्चाओं को इतनी अधिक प्रधानता रहती है कि राष्ट्रीयधारा से वह कटा-कटा-सा, अलग-थलग एक आत्म-केन्द्रित स्थान लगने लगता है जहां संकीर्ण मनोवृत्ति, सीमित विचार, सकुचित भावनाए, अज्ञान एवं साम्प्रदायिक वैमनस्य अपनी चरम सीमा पर होते हैं। गांधी का दृष्टिकोण संभवतः यह रहा हो कि गाव की समस्याओं का समाधान गांव के स्तर पर ही होना चाहिए। शहर की समस्याए मूलतः ग्राम समस्याओं से भिन्न हैं तथा एक के आधार पर दूसरे के स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। भारत में हमारे पूर्वाग्रह अथवा पाश्चात्य नकल ने हमें शहरों को अतिशय प्राथमिकता देने के लिए बाध्य कर दिया है। गांधी का यह कदम इस प्रवृत्ति के विरुद्ध एक विद्रोह था यद्यपि वे विद्रोह प्रदर्शन के नाम पर बहुत दूर चले गए तथा ग्रामोद्धार के लिए उन्होंने शहर के जीवन की पूर्णतया उपेक्षा कर दी।

स्वर्गीय डॉ० अम्बेडकर ने गांधी के विचारों से असहमति व्यक्त करते हुए कहा था कि समय के झंझावातों

से टकरा कर भी यदि पंचायत-व्यवस्था बनी रही इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि यह व्यवस्था अपने आप में सम्पन्न नहीं एवं दोषरहित है। मात्र जीवित रहना कोई विशेष मूल्य नहीं रखता। पंचायतें सम्पन्न ही निम्न-स्तर पर अज्ञान, संकीर्णता एवं स्थानीय स्वार्थों के सहारे पनपती रहीं तथा बहुमत अथवा शक्ति के नाम पर व्यक्ति के शोषण की माध्यम भी रहीं। शक्तिशाली जमींदार अथवा राजा के प्रशासन का स्थान पंचायतों के नाम पर बन जाता था तथा वे नए मुखौटों में प्रकट हो सकते थे। पंचायतों ने रबर की मोहरों की तरह अपनी उपयोगिता अवश्य दिखाई पर मौलिकता से सोचने अथवा साहस से निर्णय करने में वे असमर्थ रहीं।

गांधीजी संभवतः अज्ञान, संकीर्णता, साम्प्रदायिकता अथवा गुटों की राजनीति से गांव स्तर पर ही संघर्ष करने के पक्ष में थे। व्यक्ति की गरिमा में विश्वास करने वाले महात्मा गांधी ने व्यक्ति हितों को पंचायतों की इकाई के नाम पर समर्पित करने की बात क्यों कही—यह एक विचार-बिन्दु है। गांधी के समग्र व्यक्तित्व को देखते हुए अथवा विचारों का विश्लेषण करते हुए प्रत्येक समीक्षक को इस विरोधाभास में से निकलना पड़ता है। गांवों को इकाई मान कर भी गांधीजी व्यक्ति के विकास के प्रमुख प्रवक्ता थे अतः उनकी मान्यता के अनुसार गांव एक कल्याणकारी इकाई था न कि संकीर्ण गुटपूर्ण एवं साम्प्रदायिक राजनीति का पोषक स्थल।

संविधान निर्माताओं ने इस विचार से सहमत होना

आवश्यक नहीं समझा और अंततोगत्वा केन्द्रीय योजना के स्वरूप का निर्धारण किया गया। देश की पूंजी औद्योगीकरण; यत्रों की प्रचुरता; आयातित माल के बाहुल्य एव अन्य शहरी-सभ्यता की वस्तुओं पर खर्च की जाने लगी। गांधी पीढ़ियों के अनुभव को आने वाली पीढ़ियों के कल्याण मे सयोजित करना चाहते थे। नेहरूजी वर्तमान अनुभव एव उपलब्धि को स्थाई रूप से कल्याण का माध्यम बनाया चाहते थे। गांधी के ग्राम-स्वराज की कल्पना मे पूर्ण-रूपेण आत्मनिर्भर गांव का चित्र था जो प्रजातात्रिक व्यवस्थाओ का बिना बाह्य-हस्तक्षेप के परिपालन कर सके। यह गांव आत्म-निर्भर होते हुए भी परस्पर निर्भरता के आधार पर वस्तुओं के क्रय-विक्रय में स्वतत्र था। गाधी की विचारधारा में प्रत्येक कार्य सहकारिता के सिद्धान्त से होना था। विनोबा एव जयप्रकाश के वर्तमान कार्यों का सूत्र यदि इन विचारों में खोजा जाए तो हमें गांधी-दर्शन की उपादेयता को गभीरता से लेना होगा। उन्हें किसी संत के आदर्श वाक्य मान कर काल्पनिक अथवा असंभव नहीं ठहराया जा सकता।

सरकार ने सामुदायिक-विकास-योजनाओं की असफलता से ग्राम-पंचायतों के पुनः संचालन पर विचार किया तथा उसके साथ ही विकेन्द्रीकरण की नीति का परिपालन भी किया जाने लगा। कुछ समय के लिए लगा कि पुनः "गांवों की ओर" (Back to villages) का नारा अब जनता हृदयगम कर रही है पर उसके कटु अनुभव भी तुरन्त सामने आने लगे। ग्राम-पचायतों की प्रणाली राजनीति को

किसान की झोंपड़ी तथा मजदूर के घर तक घसीट लाई है। राजनीति की दूषित गध ने गांवों की अक्षुण्ण पवित्रता को जबरदस्त आघात पहुंचाया है तथा आज गांव संकीर्ण एवं दलगत राजनीति के अड्डे बन चुके हैं। ग्राम पचायतों की शक्तियों का दुरुपयोग गुट-सरक्षण एवं पुराने प्रतिशोध निकालने में किया जाता है। समाज के कमजोर पक्षों के लिए संरक्षण के अभाव में अस्तित्व की समस्या खड़ी हो गई है।

भारत में प्रजातंत्र के लगभग २० वर्ष परीक्षणों, असफलताओं एव विलोम परीक्षणों मे बीते हैं। हो सकता है कि औद्योगीकरण के प्रबल-प्रवाह एव बेकारी से विक्षुब्ध राजनीतिज्ञ गाधी की विचारधारा के एक और परीक्षण को तैयार हो जाएं और ग्राम-पंचायतों को वे शक्तियां दे दें जो राजनीति का बल पाकर अधिक शोषण में सहायक हों। हमें इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध सजग रहना है पर साथ ही गांवों के व्यक्तित्व का रक्षण करना है—वहा दूसरे दर्जे की नागरिकता के विकास को रोकना है तथा उसे 'आदर्श' गांव की सज्ञा से हटा कर 'यथार्थ' गांव बनाना है। सत विनोबा भावे एव जयप्रकाश नारायण के भूदान, ग्रामदान आदि आन्दोलनों में गांधी के विचारों की सही परिणति को देखा जा सकता है। गांधी ने जो ठोस विचार दिए उनकी सिद्धि विचारों की पवित्रता में नहीं अपितु उनके क्रियान्वन के ढग में है—साधनों में ही साधन की सिद्धि निहित है।

उपरोक्त विचारों से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जो उपादेय बातें निकलती हैं वे विकेन्द्रीकरण एवं ग्राम-आत्मनिर्भरता

की हैं तथा स्वागत योग्य हैं। ग्रामोद्धार के लिए यथा-संभव आत्मनिर्भरता आवश्यक है क्योंकि भोजन एव वस्त्र में राष्ट्र तभी आत्मनिर्भर बन सकता है जबकि ग्राम अधिकाधिक उत्पादन में योगदान दे तथा हल एव चर्खे का सगीत सुना जावे। ग्राम पचायतों के चुनाव यदि दलगत राजनीति के आधार पर न लड़े जावे तो भी अधिकांश गदगी दूर हो सकती है। परीक्षण के भय अथवा प्रारंभिक कठिनाइयों के फलस्वरूप यदि 'चिकित्सा' रोक दी गई तो मरीज की मृत्यु अवश्यंभावी है। आवश्यकता इस बात की है कि हमे ग्राम स्वावलंबन एवं विकेन्द्रीकरण के लिए हमारे प्रजातन्त्र को गांवों तक ले जाना होगा—चाहे उसका स्वरूप कुछ भिन्न भी हो फिर भी ८५% लोगो की आवाज का स्वागत तो करना ही होगा।

गांधी के विचारों में गांव की प्राथमिकता इसलिए थी कि वे उन्हें शहरी शोषण से बचाना चाहते थे। "शहर वाले यह बहुत कम जानते हैं कि भारत की आधी भूखी जनता किस तरह जीवन्तता खो रही है। वे यह भी नही जानते कि उनके सुख एवं आराम के मूल में विदेशी शोषकों के लिए उनके द्वारा की गई दलाली का हाथ है? इस लाभ एव दलाली का भार शोषित जनता पर पड़ता है। मानवता के विरुद्ध यह महान अपराध है एव इतिहास मे इसकी मिसाल नही मिलती।"[1]

गांधीवादी विचारक मन्नारायण के अनुसार "आखिर

---

[1] From Trial Scene in 1922

विश्वास करने से ही विश्वास बढ़ता है । यदि हम गांवों
विश्वास नहीं करेंगे तो वे भी हमारा विश्वास नहीं करेंगे
गांधीजी की यह इच्छा कदापि नहीं थी कि भारतीय स
राज्य में गांव एक दूसरे से बिल्कुल अलग पड़े रहें औ
आपस में कोई सम्बन्ध न हो ।"[1] वे इस प्रवृत्ति के विर
थे कि हमारी योजना के केन्द्र-बिन्दु शहर हों तथा पश्चि
ढंग के बड़े-बड़े कारखाने तथा मिलें, खेती और ग्रामोद्यो
को पृष्ठभूमि में धकेल दें ।

गांधीवादी विचारधारा के अनुसार विकेन्द्रीकरण क
समर्थन करते हुए श्री श्रीमन्नारायण ने कहा कि "आधुनि
संसार की विशेष परिस्थिति को देखते हुए विकेन्द्रीकरण ए
वैज्ञानिक आवश्यकता बन गया है । शासन-प्रबन्ध की दृष्टि
से भी विकेन्द्रीकरण और सत्ता का बांट देना उचित है ।"
समाजवादी लोग इस सिद्धान्त के आधार को ही स्वीकार करने
को तैयार नहीं होंगे क्योंकि उनके अनुसार राष्ट्रीयकरण ही
इस समस्या का एकमात्र निदान है । प्रश्न यह उठता है कि
उत्पादन के उपकरणों के राष्ट्रीयकरण के बाद वास्तविक
सत्ता किसमें केन्द्रित होती है । अनुभव बताता है कि सत्ता
जनता में केन्द्रित होने के स्थान पर कुछ शक्तिशाली लोगों
में हस्तांतरित हो जाती है तथा रूस एवं चीन के अनुभव
पुनः साकार हो सकते हैं । इसके परिणामस्वरूप प्रबन्ध
सम्बन्धी सत्ता का केन्द्रीकरण, बेकारी का प्रसार, धनी

---

[1] गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त पृष्ठ ७५

[2] गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त पृष्ठ ६०-६१

आवादी एवं अपनी सूझबूझ को काम मे लेने के अवसरों का अभाव आदि अन्य दोष भी इस व्यवस्था से जुड़ जाते हैं। अतः ग्राम को इकाई मानने के साथ इस बात के लिए सतर्क रहना होगा कि दलगत राजनीति अथवा अन्य तत्व शोषण-उत्पीड़न के लिए ग्रामों को केन्द्र न बना लें।

विकेन्द्रीकरण का यह सिद्धान्त हमें सर्वोदय की गांधीवादी कल्पना की ओर ले जाता है। महात्मा गांधी 'अधिकतम लोगों के अधिकतम लाभ' (Greatest good of the greatest number) के पक्ष में नही थे अपितु सब लोगों के अधिकतम लाभ का समर्थन करते थे। वे 'सर्वे भवन्तु सुखिनः" की नीति के पोषक थे अतः समाज में दलित एव शोषक वर्गों की स्थितियों में उचित परिवर्तन लाना चाहते थे। उनका कथन था कि धन का सूत्रीकरण कुछ लोगों के हाथों में नही, बल्कि सबके हाथों में होना चाहिए। "आर्थिक समानता का यह अर्थ नही मान लेना चाहिए कि सबके पास सांसारिक सम्पत्ति समान मात्रा मे होगी परन्तु इसका मतलब यह जरूर है कि हर एक के पास रहने को उपयुक्त घर होगा, खाने को काफी और संतुलित आहार होगा और तन ढकने को पर्याप्त कपड़ा होगा।"[1] गाधीवादी विचार संहिता में अधिक लोगों की भलाई का उपयोगितावादी सिद्धान्त स्वीकार्य नही था। भलाई हो तो सबकी होनी चाहिए। समाज की वितरण-व्यवस्था सामान्य एवं समान स्थितियों में सबके लिए समान होनी ही चाहिए।

---

[1] सर्वोदय पृष्ठ १२६

महात्मा गांधी ने जीवन भर इसी सिद्धान्त का प्रतिपाद किया तथा इसके लिए जनमत जागृत किया।

गांधी के विचारों में व्यक्ति की गरिमा एवं उसके उत्थान की बात प्राथमिकता लिए हुए है। व्यक्ति-समाज की एक इकाई अवश्य है पर समाज के ढांचे में उसे विकास करने का पूर्ण अधिकार है। समाज के हितों में व्यक्ति-हित को बलिदान करने की बात यहां नही उठती। मार्क्सवादी समाजवाद इसके विपरीत है। मार्क्स के मतानुसार यदि समाज की उन्नति होती है तो व्यक्ति की स्वतः ही उन्नति हो जाती है क्योंकि उसका भाग्य समाज से जुड़ा रहता है। गांधीजी के अनुसार व्यक्ति के निर्माण से यदि प्रारंभ कर दें तो समाज का निर्माण साथ ही होता चला जाएगा। मूल बात अधिकाश की नही सब लोगो के उदय की है। सर्वोदय की इस कल्पना के मुख्य स्तभ खादी-प्रचार; भूमि वितरण ग्रामोद्योग, स्वावलबन आदि हैं तथा गांधीजी इन स्तम्भों को दृढ रखना चाहते थे ताकि भारतीय जनता को आर्थिक विपन्नता का सामना नही करना पड़े।

शिक्षा की वर्तमान स्थिति मे भारतीय छात्रों के दिमाग विदेशी साचो मे ढलते है। अभी तो देश का युवा-वर्ग केन्द्रीकरण पद्धति के पक्ष मे नारे लगाता है तथा ग्रामोद्योग को सदिग्धता-वश स्वीकार नहीं करता। प्रारंभ में सदिग्धता उचित हो सकती है पर अंततः उसका स्थान विश्वास एव निष्ठा को लेना ही पड़ता है। सर्वोदय की योजना में उक्त पाचों बातों का समावेश है तथा इनके उचित

क्रियान्वन पर ही देश के करोड़ों भूखे-नगे निवासियों का उदय संभव है। वैज्ञानिक युग के नाम पर उक्त योजना को ठुकरा देना न्याय-सगत नही है। आज भी भारत मे भूमि के आवटन की समस्या है। भूपतियों अथवा जमीदारों का उन्मूलन होने के पश्चात भी किसानो मे भूमि का आवटन ठीक प्रकार से नही हो सका है। आज भी लाखो लोग भूमिहीन हैं तथा मजदूरी पर आश्रित है। उधर भूस्वामी किसी न किसी तरह भूमि पर अधिकार किए हुए है। इन सारी बाधाओं को साहसपूर्ण दूर करना होगा ताकि भूमि उसकी सपत्ति हो सके जो उससे उत्पादन करता है। खादी-प्रचार एवं सरकारी सुरक्षा के कारण चाहे खादी-मदिर देश मे विपुल पूर्ति कर सकें पर अतत. उसके लिए जनमत तैयार करने से ही समस्या का निदान हो सकता है। मात्र सरकारी सरक्षण से तो आज तक लोगो को स्वेच्छा से खादी अपनाने मे सहायता नही मिल सकती। इसे सरकारी विभाग समझा जाता है तथा नौकरशाही से ग्रस्त एवं सरकारी मशीनरी से त्रस्त जनता खादी के प्रति भी अनुराग प्रदर्शित नहीं करती।

स्वावलबन की गांधीवादी प्रक्रिया मे खादी प्रचार, भूमि-वितरण तथा ग्रामोद्योग आदि बातें आती हैं। भूआवंटन की प्रणाली सहकारिता की ओर एक निर्णायक कदम सिद्ध होगी। उसके मूल मे-धारणा यह है कि यदि सभी भूमिहीन खेतीहरों में भूवितरण हो तो जमीन के इतने छोट टुकड़े हो जाएगे कि उत्पादन की सार्थकता ही नष्ट हो सकती है। इसका निवारण सहकारी खेती द्वारा हो सकता

है। सहकारिता के जो दोष हम देखते आए हैं उनसे कृ
को बचाना होगा। अन्यथा समुचित लाभ की संभावना
प्राय: नष्ट हो जायेगी।

गांधी की सर्वोदय योजना विशाल जनसमूह के साम
हिक उत्थान की एक विधि है। इस विधि का परीक्षण कि
बिना इसे ठुकरा देना अथवा पिछड़ेपन का फतवा दे देना न्या
योचित नही है। इसका यह तात्पर्य भी नहीं कि अन्य
विधियों का परीक्षण उस समय तक रोक लिया जावे ज
तक सर्वोदय से सिद्धि अथवा निराशा का प्रादुर्भाव न हो
जाए। इसके साथ ही औद्योगीकरण; अधिक मात्रा मे
उत्पादन, तकनीकी ज्ञान के प्रसार आदि अन्य उपाय भी
अपने-अपने क्षेत्रों में उपयोगी हो सकते हैं। एक विशाल
राष्ट्र की आवश्यकताएं मात्र एक विधि से पूर्ण नहीं हो
सकतीं। कुछ उद्देश्यों पर सहमति होनी आवश्यक है; कुछ
लक्ष्यों का निर्धारण करना महत्वपूर्ण है पर इसके बाद न्यूनाधिक मात्रा में कई विधियों का समानान्तर प्रयोग किया
जा सकता है। एक तरफ भूदान एवं सम्पत्ति-दान के आन्दोलनों तथा तत्सम्बन्धी विधेयकों से एक प्रकार की क्रांति हो
सकती है तो दूसरी ओर विश्व की गतिशीलता से तकनीकी क्षेत्र में कदम मिलाकर प्रगति की जा सकती है। ये
धाराएं तो समानान्तर ही चल सकती हैं—वे एक दूसरे की
विरोधी नहीं; एक दूसरे की पूरक हैं।

प्रसंगवश यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि
घेरावों की राजनीति का प्रारंभ कुछ लोग गांधीजी के सत्या-

उपयोगी एवं उत्पादक धंधे में लग जाना चाहिए (५) हड़तालियों की जगह लेने के लिए दूसरे मजदूर काफ तब हड़ताल का उपाय बेकार साबित होता है। इस में *अन्यायपूर्ण व्यवहार हो, नाकाफी* मजदूरी मिले और कोई कारण हो तो त्यागपत्र ही उसका एकमात्र है। (६) बिना वजनदार कारण के हड़तालें होनी ही चाहिए।"[1]

गांधीजी हडताल की स्थिति में पंच-निर्णय के *में थे ताकि कोई न्यायपूर्ण समाधान निकाला जा सके।* ऐसी सम्भावना से भी परिचित थे जबकि "मगर मालि पच के या अदालत के फैसले को ठुकरा देते हैं या गुमर मजदूर अपनी ताकत के बल मालिक से जबरदस्ती और *रियायतें* पाने के लिए फैसले को मजूर करने से इन्कार देते हैं। ऐसी हालत मे मामला आम जनता के सामने है।"[2] गांधीजी के अनुसार "जो हड़ताल माली हालत बेहतरी के लिए की जाती है उसमे कभी अंतिम ध्येय तौर पर राजनीतिक मकसद की *मिलावट* नही होन चाहिए। ऐसा करने पर अक्सर हड़तालियों को इस नतीजा भुगतना पड़ता है। सरकार के सामने कुछ दिक्क जरूर खड़ी हो जाती हैं लेकिन उनकी वजह से हुकूमत क काम रुक नहीं सकता। असल मुसीबत तो गरीबों को झेलन पड़ती है।"[3]

---

१ यंग इण्डिया १६-२-२१

२ हरिजन सेवक ११-८-४६

३ हरिजन सेवक ११-८-४६

उक्त विचारों के संदर्भ में वर्तमान स्थितियों का आकलन करें तो ज्ञात होगा कि अधिकांश हड़तालें बिना पूर्व तैयारी के भावावेश एवं उत्तेजित स्थिति में प्रारंभ कर दी जाती हैं तथा अंततः आर्थिक कठिनाइयों, पारस्परिक अविश्वास एवं राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धि के नाम पर टूट भी जाती हैं। उत्तेजित मजदूर हिंसा का सहारा लेते हैं, सरकारी दमन-चक्र चलता है और उत्तरदायी लोगों के बचाव एवं निर्दोष रक्त के बहने में उसकी परिणति होती है। हड़ताल न करने वाले भी हिंसा के भागीदार बन जाते हैं। हमने दो बार केन्द्रीय कर्मचारियों की असफल सामूहिक हड़तालें देखी हैं। इसका कारण हड़तालियों के साथ जनता की सहानुभूति का अभाव है। गांधीजी ने पंच फैसले के ठुकरा दिए जाने की स्थिति में मामला जनता के सामने रखने की जो बात कही है वह हमारे भावी चिन्तन को यदि प्रभावित कर सके तो हम राष्ट्र की अभूतपूर्व सेवा कर सकेंगे।

૬/૮૯
૧/૫/૯૦